गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कार
आयुर्वैज्ञानिक दृष्टि में

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

कला संकाय के अन्तर्गत संस्कृत विषय में
डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ० ओमकार मिश्र
रीडर, संस्कृत विभाग
अतर्रा पी०जी०कालेज, अतर्रा (बाँदा)

शोध-कर्त्री
चन्द्ररेखा मिश्रा
श्रीमती चन्द्ररेखा मिश्रा
संस्कृत विभाग
अतर्रा पी०जी०कालेज, अतर्रा (बाँदा)

2005

शोध केन्द्र
अतर्रा स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अतर्रा (बाँदा) उ०प्र०

डॉ0 ओमकार मिश्र
रीडर, संस्कृत विभाग
अतर्रा पी0जी0कालेज
अतर्रा (बाँदा) उ0प्र0

निवास :
द्वारा : संत कुमार अग्निहोत्री
गौरा बाबा के पास, नरैनी रोड
अतर्रा - बाँदा
मो. 9450226865

दिनांक :......................

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि *श्रीमती चन्द्ररेखा मिश्रा* शोध-छात्रा संस्कृत-विभाग- सम्बद्ध बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी ने विश्वविद्यालय के नियमानुसार न्यूनतम 200 दिन की अवधि को पूर्ण करते हुए **''गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कार- आयुर्वैज्ञानिक दृष्टि में''** विषय पर शोध-कार्य पूर्ण कर लिया है। शोध-छात्रा के रूप में किया गया इनका यह कार्य शोध-प्रबन्ध के उद्देश्यों को पूर्ण करता है। इनका यह कार्य मौलिक एवं प्रशंस्य है। मैं इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

(डॉ0 ओमकार मिश्र)
रीडर, संस्कृत विभाग
अतर्रा पी0जी0कालेज, अतर्रा (बाँदा)

कृतज्ञता

जिन-जिन महानुभावों की कृतियों से मैं इस शोध-प्रबन्ध के प्रणयन में लाभान्वित हुई हूँ उनके प्रति मैं जिन शब्दों में कृतज्ञता ज्ञापन करूँ वे शब्द ढूँढ़े नहीं मिलते हैं। शब्दों के द्वारा कृतज्ञता प्रकाशन एक प्रथमात्र है। वास्तविक कृतज्ञता ज्ञापन तो हृदय से होता है। अतः आप महानुभाव मेरी मूक वाणी पर सच्ची हार्दिक कृतज्ञता स्वीकार करें यही मेरी प्रार्थना है।

सर्वप्रथम हम उस परम ब्रह्म परमेश्वर के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने मुझमें बचपन से ही संस्कृत के प्रति अभिरुचि उत्पन्न की एम0ए0 करने के पश्चात् हमने शोध कार्य के लिए अतर्रा पी0जी0कालेज, अतर्रा (बाँदा) के विभागाध्यक्ष श्री राजाराम दीक्षित जी से अपनी इच्छा प्रकट की उनका उचित मार्गदर्शन व उत्साहवर्धन इस शोध कार्य में आद्यन्त प्रेरक रहा। अतः मैं सर्वप्रथम उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ। इस शोध के निर्देशक डॉ0 ओमकार मिश्र, रीडर संस्कृत विभाग, अतर्रा पी0जी0कालेज, अतर्रा (बाँदा) का शोध निर्देशन ही इस कार्य को पूर्णता प्रदान कर सका। अतः मैं इनके इस कार्य के लिए हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ। इस कालेज के अन्य गुरुजन व पुस्तकालयाध्यक्ष और उन सभी का जिनका प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में इस कार्य में सहयोग मिला मैं उनकी भी आजीवन ऋणी रहूँगी।

मैं अपनी माता श्रीमती मिथलेश मिश्रा व पिताजी श्री उमाशंकर मिश्र जी का आभार व्यक्त करती हूँ जो हमें स्नेह पूर्वक प्रोत्साहन प्रदान करते रहे और मैं अपने ज्येष्ठ अग्रज डा0 रामजी भाई मिश्र व भाभी श्रीमती शोभा मिश्रा का भी आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने अथक परिश्रम करते हुए हमें अपना सहयोग प्रदान किया और फिर अपने द्वितीय अग्रज श्री लखन जी भाई मिश्र व भाभी श्रीमती अमृता मिश्रा का भी आभार व्यक्त करती हूँ।

फिर मैं अपने श्वसुर जी श्री रामदत्त मिश्र (भूतपूर्व मण्डी सचिव) व सासू माँ

श्रीमती राममणि मिश्रा का भी हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने अपना आर्थिक व मनोवैज्ञानिक सहयोग देकर इस शोध कार्य को पूर्णता में रूपायित किया है। मैं अपने ज्येष्ठ श्री अनिल कुमार मिश्र व जेठानी श्रीमती रानी देवी का भी हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ। इसी क्रम में अपनी नन्द कु0 विवेचना मिश्रा (एम0ए0संस्कृत एवं अंग्रेजी) का मैं हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मुझे इस कार्य की पूर्णता में हर सम्भव प्रयास किया। और इसके बाद मेरे पति श्री अनूप कुमार मिश्र का भी आर्थिक और मनोवैज्ञानिक रूप से मुझे कदम-कदम पर पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है जिनकी मैं आजीवन ऋणी रहूँगी व हृदय से उनका आभार व्यक्त करती हूँ।

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुझे जिनका भी सहयोग मिला मैं उन सभी का आभार व्यक्त करती हूँ।

अन्त में शोध-प्रबन्ध के टंकण कार्य हेतु श्री अखिलेश कुमार द्विवेदी विधि कम्प्यूटर्स, अतर्रा बाँदा के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने अथक परिश्रम करके इस शोध-प्रबन्ध को पूर्णता प्रदान की है।

शोधार्थिनी

श्रीमती चन्द्ररेखा मिश्रा

एम0ए0 संस्कृत

संकेत सूची

जै0 न्या0 मा0 वि0	:	जैमिनी न्याय माला विस्तार
जै0 मी0 सू0	:	जैमिनी मीमांसा सूत्र
सां0 सू0	:	साँख्य सूत्र
तै0 सं0	:	तैत्तिरीय संहिता
ऋ0 वे0	:	ऋग्वेद
द्रा0 गृ0 सू0	:	द्राह्यायण गृह्यसूत्र
गो0 गृ0 सू0	:	गोभिल गृह्यसूत्र
खा0 गृ0 सू0	:	खादिर गृह्यूसत्र
शां0 गृ0 सू0	:	शाँखायन गृह्यसूत्र
क0 प्र0	:	कर्म प्रदीय
जै0 गृ0 सू0	:	जैमिनि गृह्यसूत्र
म0 ब्रा0	:	मन्त्र ब्राह्मण
श0 ब्रा0	:	शतपथ ब्राह्मण
ला0 श्रौ0 सू0	:	लाट्यायन श्रौतसूत्र
का0 श्रौ0 सू0	:	कात्यायन श्रौत सूत्र
सा0 सं0 पू0	:	साम संहिता पूर्वार्चिक
वा0 सं0	:	वाजसनेयी संहिता
मा0 श्रौ0 सू0	:	मानव श्रौत सूत्र
सा0 सं0 उ0	:	साम संहिता उत्तरार्चिक
हि0 सं0	:	हिन्दू संस्कार
सं0 वि0 वि0	:	संस्कार विधि विमर्श
च0 सं0 वि0 स्था0 अ0	:	चरक संहिता विमान स्थान अध्याय

शौ0 गृ0 सू0	:	शौनक गृह्सूत्र
आप0 गृ0 सू0	:	आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आ0 गृ0 सू0	:	आश्वलायन गृह्यसूत्र
भा0 गृ0 सू0	:	भारद्वाज गृह्यसूत्र
पा0 गृ0 सू0	:	पारस्कर गृह्यसूत्र
द्र0 सं0 वि0 पृ	:	द्रष्टव्य संस्कार विधि पृष्ठ
तै0 ब्रा0	:	तैत्तिरीय ब्राह्मण
बौ0 गृ0 सू0	:	बौधायन गृह्यसूत्र
याज्ञ0 स्मृ0	:	याज्ञवल्क्य स्मृति
म0 स्मृ0	:	मनुस्मृति
का0 गृ0 सू0	:	काठक गृह्यसूत्र
भा0 गृ0 सू0	:	भारद्वाज गृह्यसूत्र
हि0 गृ0 सू0	:	हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र
मा0 गृ0 सू0	:	मानव गृह्यसूत्र
वै0 गृ0 सू0	:	वैखानस गृह्यसूत्र
हि0 गृ0 सू0	:	हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र
का0 गृ0 सू0	:	काठक गृह्यसूत्र
अ0	:	अध्याय
वा0 गृ0 सू0	:	वाराह गृह्यसूत्र
च0 सं0 सू0	:	चरक संहिता सूत्रस्थान
सु0 सं0 सू0	:	सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान
च0 सं0 शा0 अ0	:	चरक संहिता शरीर स्थान अध्याय
य0 वे0	:	यजुर्वेद

बृ0 उ0	:	बृहदारण्यकोपनिषद्
अ0 वे0	:	अथर्ववेद
ऐ0 ब्रा0	:	ऐतरेय ब्राह्मण
गो0ब्रा0	:	गोपथ ब्राह्मण
छा0 उ0	:	छान्दोग्य उपनिषद्
का0 सं0 वि0	:	काश्यप संहिता विमानस्थान
च0 सू0	:	चरक सूत्र
सं0 वि0 वि0	:	संस्कार विधि विमर्श
आप0 ध0 सू0	:	आपस्तम्ब धर्म सूत्र
व0 गृ0 सू0	:	वधूल गृह्यसूत्र
वै0 स0	:	वैदिक सम्पदा
पा0 शि0 पृ0	:	पाराशरी शिक्षा पृष्ठ
याज्ञ0 शि0	:	याज्ञवल्क्य शिक्षा
वै0 सा0 औ0 सं0	:	वैदिक साहित्य और संस्कृति
पा0 शि0	:	पाणिनि शिक्षा
हा0 गृ0 सू0	:	हारीत गृह्यसूत्र
वी0 मि0 सं0 प्र0	:	वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश
का0 चि0	:	काय चिकित्सा

अनुक्रमणिका

गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कार - आयुर्वैज्ञानिक दृष्टि में

संकेत सूची

भूमिका पृ.सं. 1-27तक

वेद का अर्थ, महत्त्व एवं उपयोगिता
वेदों का रचना काल
संहिता साहित्य
ऋग्वेद संहिता, ऋग्वेद का अर्थ व ऋग्वेद की शाखाएँ
सामवेद संहिता
साम का अर्थ, शाखायें
यजुर्वेद संहिता-
यजुष् का अर्थ व शाखायें
अथर्ववेद संहिता
अथर्व का अर्थ व शाखायें
ब्राह्मण साहित्य
अर्थ, वैदिक शाखाओं के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थ-
आरण्यक
अर्थ, प्रतिपाद्य विषय व संहिता अनुसार आरण्यक ग्रन्थ
उपनिषद्
अर्थ, व्युपत्ति, प्रमुख उपनिषद्
वेदांग-
शिक्षा, कल्प,व्याकरण , निरुक्त, छन्द, ज्योतिष गृह्यसूत्रों का काल

प्रथम अध्याय- पृ.सं. 28-87तक

गृह्यसूत्रों के वर्ण्य विषय

प्राक्कथन
क- संस्कारातिरिक्त गृह्यकर्म
गृह्यकर्मो के आवश्यक सहकर्म
दिशा निर्देशन

समय सम्बन्धी निर्देशन
देवता सम्बन्धी निर्देशन
पदार्थ सम्बन्धी निर्देशन
हाथ सम्बन्धी निर्देशन
कुछ अनिवार्य कर्म
अग्नि स्थापन-
अग्नि स्थापन कैसे करें?
सायंप्रातः होम
होम का समय
होम कैसे करें?
दर्शपौर्णमास
- यज्ञ काल
- प्रथम कौन
- प्रारम्भिक नियम
- स्थालीपाक
- हवन का विधि-विधान
- यज्ञास्तुकर्म

व्रत
- गोदान व्रत
- गोदान व्रत के कुछ पालनीय नियम
- व्रातिक व्रत
- आदित्य व्रत
- नियम
- औपनिषदिक व्रत
- ज्येष्ठसामिक व्रत
- नियम या आचार विचार
- महानाम्निक व्रत
- आचार-विचार

वैश्वदेवबलिहरण
उपाकरण
अनध्याय
प्रायश्चित

गोपुष्टि
अश्वयज्ञ
श्रवणाकर्म
आग्रहायाणी कर्म
स्वतरारोहरण
आश्वयुजीकर्म
नवान्न यज्ञ
अष्टका
अपूपाष्टका
मध्यमाष्टका
अन्वष्टका
श्राद्ध
साकाष्टका
विविध इच्छाओं की पूर्ति
अतिथि पूजन
गृह्यकर्म

ख. संस्कारात्मक गृह्य कर्म

संस्कार
संस्कारों की संख्या
विवाह
कन्या लक्षण परीक्षा
विवाहोत्तर कार्य
आचार-विचार
पतिगृह गमन
चतुर्थी कर्म
गर्भाधान
गर्भधान का काल
पुंसवन
एक विचारणीय प्रश्न
सीमान्तोन्नयन
सोष्यन्ती होम

जात कर्म
मधुप्राशन
निष्क्रमण या चन्द्रदर्शन
नामकरण
अन्नप्राशन
चूड़ाकरण
काल
कर्णवेध
उपनयन
समावर्तन
आचार-विचार
अन्त्येष्टि

द्वितीय अध्याय : पृ.सं. 88-127तक

आयुर्वेद व आयुर्वेज्ञानिक ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

आयुर्वेद का अर्थ
आयुर्वेद की अनादि परम्परा
आयुर्वेद का आद्य परम्परा
संहिता साहित्य व आयुर्वेद
ऋग्वेद व आयुर्वेद
यजुर्वेद व आयुर्वेद
अथर्ववेद व आयुर्वेद
ब्राह्मण साहित्य व आयुर्वेद
उपनिषद् साहित्य का आयुर्वेद
गृह्यसूत्र व आयुर्वेद
प्रमुख आयुर्वेदीय ग्रन्थ
चरक संहिता
सुश्रुत संहिता
भेल संहिता
हारीत संहिता
काश्यप संहिता
अष्टांग संग्रह

अष्टांग हृदय
योग शतक
शांरगधर संहिता
कल्याण कारक
भाव प्रकाश
अन्य आयुर्वेदीय ग्रन्थ
आयुर्वेद व उसके अष्टांग
शल्य तंत्र
शालाक्य तंत्र
काय-चिकित्सा
भूत विद्या
कौमारभ्रत्य
अगद तंत्र
रसायन तंत्र
वाजीकरण
आयुर्वेद की प्राचीनता
भारत
मेसोघोटामिया
मिस्र
रोम
बाबुल
मैक्सिको
चीन
यूनान
अरब
प्राचीन फारस
पेरु
लंका
नेपाल
अद्यतन आयुर्वेद

तृतीय अध्याय : पृ.सं. 128-152 तक

संस्कारों के विधि-विधान आयुर्वैज्ञानिक दृष्टि में

संस्कारों की व्युत्पत्ति व अर्थ
विवाह
गर्भाधान
पुंसवन
सीमान्तोन्नय
जातकर्म
अन्नप्राशन
निष्क्रमण या चन्द्र दर्शन
नामकरण
चूड़ाकरण
कर्णवेध
उपनयन
समावर्तन
अन्त्येष्टि

चतुर्थ अध्याय : पृ.सं. 153-182 तक

संस्कारों में प्रयुक्त मंत्र आयुर्वैज्ञानिक दृष्टि में

मंत्र का अर्थ
मंत्रोच्चारणार्थ विविध अपेक्षाएँ
चिकित्सा में मंत्रों की सहभागिता
व्याधि निरसन
अजरा
दुःस्वप्न विनाश
रोग शून्यता
दीर्घायु प्राप्ति
संधान क्रिया
क्रिमि नाश
दिवाशयन वर्जन
बलप्राप्ति

मधुप्रशंसा
विष नाश
सुन्दर व स्वस्थ संतति
गर्भाधान क्रिया
बन्ध्याराहित्य, सुख-प्रसव व शिशु रक्षा
उरुधात निवारण व शोधन
देवभिषक् आश्विन
औषधियाँ
गर्भाधान
मृत्यु संतरण
सूर्य का औषधात्मक स्वरूप
अग्नि का औषधात्मक स्वरूप
जल का औषधात्मक स्वरूप
वायु का औषधात्मक स्वरूप

पंचम अध्याय : पृ.सं. 183-208 तक

संस्कारों के अन्य औचित्य

अशुभ भावनाओं का दूरीकरण
शुभ भावनाओं का शुभ प्रभाव
भौतिक उद्देश्यों की पूर्ति के पूरक संस्कार
संस्कारों का भावनात्मक सम्बन्ध
संस्कार धर्म और पवित्रता की वृद्धि में सहायक
समाजिक अधिकार की प्राप्ति
मोक्ष प्राप्ति
आत्म गुणों का विकाश
चरित्र निर्माण
संस्कारों का आध्यात्मिक औचित्य
संस्कारों में कथित उपवास
संस्कार व होम विधान
व्याधि व व्याधियों के भेद
गृह्यसूत्र व व्याधियाँ
चिकित्सा व चिकित्सा के भेद

गृह्यसूत्रों में चिकित्सा
व्रणलेपन
प्रसूति चिकित्सा
मणि चिकित्सा
विष चिकित्सा
क्रिमि चिकित्सा
पशु चिकित्सा
संस्कार व स्वस्थव्रत

उपसंहार पृ.सं. 209-218तक

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची पृ.सं. 219-224तक

भूमिका

भूमिका

मनीषियों ने साहित्य को समाज का दर्पण कहा है। आर्यो के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक आदि तथ्यों के अवलोकनार्थ वेदों का अध्ययन परमावश्यक है। वेद क्या है? इनका आविर्भावकाल क्या है? इनके वर्ण्य-विषय क्या हैं? आदि विषय बड़े ही कठिन है। फिर भी मनुष्य को प्रयत्नरत होना चाहिए इसलिए मैने इस विषय में कुछ प्रयास किया है, शायद सुधीजन को ग्राह्य हो।

गृह्यसूत्र और संस्कारों का बहुत गहरा सम्बन्ध है। संस्कार गृह्यसूत्रों के प्रमुख वर्ण्य विषय हैं। ये गृह्यसूत्र क्या है? इस प्रश्न के क्रमबद्ध ऐतिहासिक ज्ञान के लिए वैदिक वाङ्मय का ऐतिहासिक अध्ययन परमावश्यक हो जाता है। भूमिका में इसी तथ्य का अवलोकन करेंगे।

वेद शब्द सुनकर हम भारतीयों का हृदय गर्व से प्रफुल्लित हो उठता है। निरुक्त में कहा है- "सर्वाणि नामानि आख्यातजानि"- अर्थात् सभी नाम आख्यान (क्रिया) से उत्पन्न होते हैं। वेद भी एकनाम है, इसमें विद् ज्ञान,विद विचारणे, विद्सत्तायाम् और विद्त्त लाभे।[1] ज्ञानार्थक विद् लोक में इस समय ज्यादा व्यवहृत है। अलौकिक (लोकोत्तर) उपायों का ज्ञापक मानते हुए आचार्य सायन ने अपनी तैत्तरीय संहिता की भावय भूमिका में लिखा है कि-इष्टप्राप्त्यनिटपरिहारयोर लौकिक मुपायं यो ग्रन्थों वेदपति स वेदः अर्थात इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार का अलौकिक उपाय जो ग्रन्थ बतलाता है- वह वेद है। इस प्रकार वेद अलौकिक ज्ञानों से भरे पड़े हैं। इस इंष्ट और अनिष्ट के विषय में जो वेदों में उपलब्धि होती है उसे

1. विद्ज्ञाने अदादिः-सि.कौ. पृ. 324 (शिवदत्तदाधिमथ संस्करण)वेदामृतम - डॉ0 आर0ए0त्रिपाठी के आधार पर
विद् विचारणे रुधादिः - सि.कौ. पृ0346-वेदामृतम्
विद् सत्तायम् दिवादिः - सि.कौ. पृ0 334 - वेदामृतम्
विद्लृलाभे तुदादिः - सि.कौ.पृ. - 345 - वेदामृतम्

हम तर्कों पर नहीं कस सकते जैसे ज्योतिष्टोमाद यज्ञ इष्ट प्राप्ति के हेतु हैं और कलंजादि मझण अनिष्ट के हेतु हैं यह उपाय केवल वेद ही बता प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाणों से इसे नहीं जाना जा सकता है।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वायस्तुपायो न बुध्यते।
एवं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता।।

"मन्त्र ब्रांह्मणयोर्वेदनामधेयम्"[1] अर्थात मन्त्र और ब्राह्मण को वेद कहा जाता है। मन्त्र शब्द मन् धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। ज्ञानार्थक मन् धातु के तीन अर्थ है।[2] ज्ञानार्थक विचारार्थक व सत्कारार्थक। ज्ञानार्थक मन् धातु से हम मन्त्र का अर्थ करेगे- मन्यते (ज्ञायते) ईश्वरादेशः अनेन इति- अर्थाथ जिसके द्वारा ईश्वरीय आदेशों का ज्ञान हो वह मन्त्र है। विचारार्थक मन् धातु का अर्थ होगा- मन्यते (विचार्यते) ईश्वरादेशों येन सः मन्त्रः अर्थात जिसके द्वारा ईश्वरीय आदेशों का सम्यक् प्रकार से विचार, चिन्तन व मनन किया जाय वह मन्त्र कहलाता है। सत्कारार्थक मन् धातु का अर्थ होगा- "मन्यते सत्क्रियते देवता विशेषः अनेन इति" अर्थात जिसके द्वारा देवताओं का सत्कार सूचित हो वह मन्त्र कहलाता है।

इस प्रकार तीनों व्युत्पत्तियों में मन्त्र के जो अर्थ समन्वित रूप में इस प्रकार कह सकते हैं- मन्त्र वेद का वह भाग है जिसमें ईश्वरीय ज्ञान का वर्णन हो। इसके अतिरिक्त भी मन्त्र के विषय में अन्य कई मत प्राप्त होते हैं- ''विहितार्थाभिधायको मन्त्रः[3] अर्थात विहित अर्थ के अभिधायक वाक्य ही मन्त्र है। 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या'[4] अर्थात कर्म प्रेरक वाक्य ही मन्त्र हैं। माधवाचार्य ने जैमिनि न्यायमाला विस्तार में 2/1/22-23 में कहा है कि याज्ञिक परम्परा में अनुष्ठान के स्मारक वाक्य प्रयोग को मन्त्र कहा जाता है। जिस प्रकार दर्शनशास्त्र का रहस्य कारिकाओं द्वारा व्याकरण

1. ऋग्वेद भाष्य भूमिका-आचार्य सायण - पृ0 2-3
2. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - वाचस्पति गैरोला-पृ0 27
3. जै0न्या0मा0वि0 2/1/22
4. जै0मी0सू0 - 2/1/32

का सूत्रों द्वारा कात्य का श्लोकों द्वारा प्रकट होता है, वैसे ही वैदिक वाड्मय का रहस्य द्वारा मन्त्रों प्रकट होता है।

द्वितीय पद ब्राह्मण है। ब्राह्मण शब्द ब्राह्मन् के व्याख्यापरक ग्रन्थों का नाम है। शतपथ ब्राह्मण ने कहा है- ब्रह्मण वै मन्त्रः'[1] अर्थात मन्त्र के अर्थो -विधिविधानों आदि के स्मारक वाक्य ब्राह्मण है। ब्राह्मण शब्द का एक अर्थ यज्ञ भी है यज्ञीय विधानों के स्मारक वाक्य ब्राह्मण है।

वेद शब्द सदैव बहुवचनान्त प्रयुक्त होता है। वेदों का प्रादुर्भाव कब हुआ? इसका एक उत्तर अभी तक नहीं दिया जा सका है और न भविष्य में दिये जाने की सम्भावना है। जब हम इस विषय पर विचार करते हैं तो दो प्रकार के मत हमारे सम्मुख प्रस्तुत होते है। वेदों को अपौरूषेय मानने वालों के मत व वेदों को पौरूषेय मानने वालों के मत।

अपौरूषेय का भाव है कि वेद किसी भी पुरूष द्वारा निर्मित नहीं है। वेदों में जिन ऋषियों के नामों का उल्लेख मिलता है वे ऋषि उन मन्त्रों के दृष्टामात्र है-"ऋषयों मन्त्रद्रष्टारः न तु कर्न्तारः" ऋषियों ने मन्त्रों को कहाँ देखा? पार ब्राह्मपरमेश्वर जो अनादि, अनन्त व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार है- के निः श्वास के रूप में वेद प्रादुर्भूव हुए-

'यस्य निःश्वासितं वेदाः यो वेदेभ्यो खिलं जगत्।

निर्ममे तमहं वन्दे,विक्षातीर्थ महेश्वरम्।।

जिस प्रकार श्वास प्रश्वास मनुष्य की स्वाभाविक क्रिया है उसी प्रकार उस पारब्रह्मपरमेश्वर के निःश्वास रूप में वेद 'अदृष्ट वशात् अबुद्धिपूर्वक स्वतः ही आविर्भूत होते हैं। उसमें उसका किञ्चिन्मात्र भी प्रयत्न जागयक नहीं रहता।[2] अतः निःश्वास रूप में प्रादुर्भूव हुए वेदों को ऋषियों ने अपने ज्ञान नेत्रों से दर्शन किया। इस तर्क

1. शतपथ ब्राह्मण - 7/1/1/5

2. वैदिक साहित्य का इतिहास- बल्देव उपाध्याय पृ0 13

के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अपनी स्वाभाविक शक्ति की यथार्थज्ञान की उत्पादन शक्ति की अभिव्यक्ति के कारण वेद का स्वतः प्रामाण्य है। नैयायिको के के समान वह आद्यप्रमाण्य के ऊपर अपने प्रामाण्य के लिए आश्रित नहीं होता। 'निजशक्त्य भिव्यक्तः स्वतः प्रामाण्यम्।[1] इस वेदों की अपौरुषेयता स्वतः प्रमाणित होती है। महाभारत के वनपर्व में व्यास जी का अभिमत है कि प्रलयकाल में वेद अन्तर्धान हो जाते है और सृष्टि के आदि में ये ही ऋषियों के द्वारा दृष्ट होते हैं।

इस विषय में निष्कर्षरूपेण हम यह कह सकते है कि भारतवर्ष के नाना दर्शन विभाग एकमत से वेद के नित्य स्वतः प्रमाण तथा मानवमात्र के लिए उपदेष्टा के रूप में पूर्ण विश्वास करते हैं तथा आग्रह रखते हैं। अधिकांश उसे अपौरुषेय ही मानते है। पौरूषेय मतानुयायी नैयायिक भी उसे सर्वज्ञ परमेश्वर की रचना मानता है। वेदों में कुछ ऐसा रहस्य भरा हुआ है कि शंकराचार्य जैसा तार्किक शिरोमणि भी वेद-विरोध ा के सामने नतमस्तक हो जाता है तथा तद्विरुद्ध सिद्धान्त का परित्याग कर देता है। तथ्य यह है कि श्रुति परमकारुणेक सर्वज्ञ परमेश्वर की दिव्यावाक् है जिसका श्रवण ऋषियों ने अपने तपःपूत ह्रदय में दीर्घतपस्या के अनन्तर किया था। ह्रदय में श्रवण करने के कारण ही तो वेद के श्रुति नाम की सार्थकता है।[2]

द्वितीय समुदाय वेद को पौरुषेय मानता है इसमें अधिकांश पश्चिमी विद्वान एवं कुछ भारतीय विद्वान भी है। इनकी सम्मति में अन्य ग्रन्थों की भाँति वेद भी ग्रन्थ हैं और मानव द्वारा रचित हैं। ये विद्वान वेदों के काल को निम्न प्रकार से अभिव्यक्त करते हैं।

1. मैक्सम्ूलर 1200 वि0पू0

2. बेवर ये सम्पूर्ण संसार के साहित्य से वेदों को प्राचीन मानते हैं लेकिन तिथि के विषय में मौन ही हैं।

---

1. सां. सू. 5/51 (वै.सा.का इतिहास- बल्देव उपाध्याय पृ0 13 के आधार पर)
2.वैदिक साहित्य का इतिहास- बल्देव उपाध्याय पृ0 16

3. लोकमान्य तिलक 6000वि0पू0

4. ह्यूगो विंकलर - 1400 ई0पू0

5. मैक्डॉनल -1300 ई0 पू0

6. अविनाश चन्द्र व्यास- 25000 ई0पू0

7. विण्टर निट्ज -2500-2000 ई0पू0

8. बुलर -1500-1200 ई0 पू0

9.हॉग 1400 ई0 पू0

उपर्युक्त विद्वानों के विविध मतों का अवलोकन करने से यह स्पष्ट होता है कि वेदों के कालनिर्धारण के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। उनके विचारों में बहुत बडा समयान्तर है। इस विचारधारा के आधार पर हम निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि वेदों को पौरूषेय मानने वाले भी इतना तो मानते है कि वेद दुनिया की सर्वप्राचीन धरोहर है। ये तब की रचनायें हैं जब दुनियाँ में सभ्यता का कहीं नामोनिशान नहीं था।

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय को मोटे तौर पर चार भागों में विभक्त किया जाता है। संहिता, ब्राह्मण,आरण्यक और उपनिषद।

संहिता साहित्य :-

संहिता मन्त्रों का समूह है। संहिता के विषय में ऋकप्रातिशाख्य का कहना है कि ''संहिता पद प्रकृति'' अर्थात पदों का अपने प्राकृतिक रूप में होना ही संहिता है। पद,पाठ,घनपाठ, जरापाठादि संहिता के ही आधार पर होते हैं। अष्टाध्यायी के 'परः सन्निकर्षः संहिता' अर्थात वर्णो का अत्याधिक सामीप्य ही संहिता है, सूत्र का भी भाव यही है। मन्त्रों के पद जब अपने प्राकृतिक रूपों में रहते हुए सामीप्य भाव में अवस्थित हों तो उसे हम संहिता कहते है। वेद तो मूलतः एक हैं अत्यन्त महत्वशाली एवं दुरध्येय होने के कारण जिज्ञासुओं को सुखपूर्वक ग्रहण हो जाय इसलिए महर्षि

वेद व्यास जी ने भिन्न-भिन्न ऋत्विजो के उपयोग के लिए इन मन्त्र संहिताओं का संकलन किया-"वेदं तावदेकं सन्तम् अतिमहत्वाददुरहध्येयमनेक शाखाभेदेन समाम्नासिषुः। सुखग्रहण्णय व्यासेन सभाम्नातवन्तः।[1]

वैदिक कर्मकाण्डसम्दनाद्शर्थ चार ऋत्विक् होते हैं-होता, उद्गाता, ब्रह्म और अध वर्यु। होता ऋग्वेद,उद्गाता सामवेद, ब्रह्म अथर्ववेद और अध्वर्यु यजुर्वेद का ऋत्विक होता है । इन चारो वेदों की चार संहिताये होती है- ऋग्वेद-संहिता, यजुर्वेद-संहिता, सामवेद-संहिता और अथर्ववेद-संहिता।

ऋग्वेद संहिता :-

चारो संहिताओं में यह संहिता सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसकी भाषा एवं वर्ण्य सर्वप्राचीन हैं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वेदों की व्युत्पत्ति वर्णित करते समय ऋग्वेद की व्युत्पत्ति सर्वप्रथम बतलाई गई है- "तस्माद्ययज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जाज्ञिरे" ऋग्वेद के मन्त्र को ऋचा कहते हैं क्योंकि ऋग्वेदीय मन्त्रों से देवताओं की स्तुति की जाती है-ऋच्यते स्तूपते अनया इति ऋक्। तैत्तिरीय संहिता का कहना है कि सामसंहिता एवं यजुष् संहिता से जो विधान किया जाता है

वह शिथिल होता है लेकिन ऋचा के द्वारा जो विधान किया जाता है वह दृढ़ होता है-

यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद् यद् ऋचा तद् दृढ़मिति।[1]

ऋग्वेद को दो प्रकार से विभाजित किया जाता है-अष्टक क्रम और मण्डलक्रम अष्टक क्रमानुसार सम्पूर्ण ऋग्वेद आठ अष्टकों और दो हजार छः वर्गो में विभक्त किया गया। मण्डल क्रमानुसार सम्पूर्ण ऋग्वेद 10 मण्डलों 85 अनुवाक्, 1017 सूक्त हैं। इन सूक्तों के अतिरिक्त 11 व खिल नाम से प्रसिद्ध सूक्त है। इन मण्डलों के विषय में पाश्चात्य अनुसन्धाताओं की अवधरणा है कि इनमें प्राचीन व नवीन दोनों

1. *दुर्गाचार्य निरुक्तवृत्ति - 1/20*
2. *तै०सं० 6/5/10/3*

प्रकार के सूक्त विद्यमान हैं। वे द्वितीय मण्डल से सप्तमण्डल पर्यन्त भाग को ऋग्वेद का सर्वप्राचीन भाग मानते हैं। इसमें प्रत्येक मण्डल का ऋषि एक ही है। नवम मण्डल में एक ही देवता 'सोम' के विषय में वर्णन है। प्रथम मण्डल और दशम मण्डल को बाद में जोड़ा गया, अतः यह नवीन है।

शाखायें :-

वस्तुतः वेदों की जितनी शाखायें होगीं उतने ही ब्राह्मण,आरण्य,उपनिषद व वेदांग (श्रोतसूत्र गृहसमूह सूत्रादि) होने चाहिए। परन्तु आज की परिस्थिति में ऐसा नहीं है। बहुत ही कम शाखायें अपने विस्तार के साथ उपलब्ध हैं। महाभाष्य के पस्पशाह्रिक में ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है। कि "एक विंदातिधा बाहृच्यम्" अर्थात् ऋग्वेद की इक्कीस शाखाये हैं। इन इक्कीस शाखओं में आज केवल पाँच शाखायें ही अपूर्ण रूप में प्राप्त होती हैं -शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और माण्डूकायन।

ऋग्वेद के प्रथम भाष्यकार स्कन्दस्वामी हैं। ये स्कन्दस्वामी गुजरात के रहने वाले थे तथा शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकर्ता हरिस्वामी के गुरू थे। इसके अतिरिक्त सायण,उदगीथ ,माधवभट्ट ,वेंकटमाधव, धनुष्कयज्वा, आनन्दतीर्थ,आत्मानन्द आदि के नाम भी ऋग्वेद के भाष्यकार के रूप में प्राप्त होते हैं।

सामवेद-संहिता :-

वेदों में सामवेद बड़ा ही गौरवशाली माना जाता है, भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में इसीलिए कहा है कि "वेदानां सामवेदोऽस्मि ब्रह्म देवता का कहना है कि "सामानि यो वेत्ति स वेद तत्वम्।" अर्थात जो ब्यक्ति सामवेद को जानता है वही वेद के तत्त्व अर्थात् रहस्य को जानता है।

ऋचाओं पर जो गाना गाये जाते हैं उन गीतात्मक मन्त्रों को साम कहते हैं-गीतिषु सामाख्या" "ऋचि अध्यूढं साम"। इस प्रकार ऋक् और साम में अत्यन्त प्रगाढ़ सम्बन्ध है। वैदिक साहित्य में साम के जो अनेक नाम उपलब्ध होते हैं उनसे

इसकी प्रचीनता व महत्ता स्वयमेव स्पष्ट होती है। ऋग्वेद में साम के वृहत्,वैरूप,गायत्र,रैवत भद्र आदि नाम उपलब्ध होते हैं। यजुर्वेद में वैरवानस्,वामदेव, रथन्तर,वैराज, अभीवर्त, शाक्वर, रैवत आदि। सामवेद ये नाम शायद उसके गान पद्धति का उल्लेख हो। महाभाष्य में सामवेद की शाखाओं के विषय में लिखा है कि " सहस्रवर्त्मा सामवेद" अर्थात् एक हजार शाखाओं वाला सामवेद है। पुराणों में भी इसी संख्या का समर्थन किया गया है। अनेक विद्वानों की अवधारणा है कि 'सहस्र' शब्दशाखावाचीन न होकर सामगान की विशिष्ट पद्धतियों का उल्लेख है। चरण व्यूह, दिव्यावदान, जैमिनिगृह्यसूत्र, प्रप्रञचहृदय आदि ग्रन्थो के अध्ययन से सामवेद की तेरह शाखाओं का अवबोध होता है। तेरह शाखाओं में आजकल पूर्णापूर्ण रूप में केवल तीन ही शाखायें उपलब्ध हैं-कौथुम,जैमिकीय और राणायनीय। इनमें कौथुम शाखा सर्वाधिक लोकप्रिय है।

सामवेद का ऋतिक्य् उद्गाता है। इसका कार्य औद्गात्र कर्म है। इस वेद के दो विभाग किए जाते है- पूर्वाचिक और उत्तरार्चिक। पूर्वर्चिक उत्तरार्चिक की अपेक्षा प्राचीन है। ऊहगान,ऊह्यगान,वेदगान और आरण्यगान ये चार प्रकार के सामगान है।

माधव सामवेद के प्रथम भाष्यकार माने जाते है। इसके अतिरिक्त भरतस्वामी,गुण विष्णु आदि के नाम से भी सामभाष्यों का उल्लेख प्राप्त होता है।

यजुर्वेद-संहिता :-

वैदिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से यजुर्वेद संहिता का महत्त्व है। चारो ऋत्विजों में अध्वर्यु ही कर्मकाण्ड की दृष्टि से महत्व पूर्ण है। अध्वर्यु का वेद यजुर्वेद है।' अनियताक्षरावसानयोः यजुः','गद्यात्मको यजु' और शेषे यजुः शब्दः' इन तीनो की परिभाषाओं को हम समष्टि रूप से इस प्रकार कह सकते है-ऋक् व साम से अतिरिक्त गद्यात्मक वेद यजुर्वेद है'। इस वेद के दो सम्प्रदाय हैं- ब्रह्मसम्प्रदाय और

आदित्य सम्प्रदाय। ब्रह्मसम्प्रदाय कृष्ण यजुर्वेद का प्रतिनिधि है और आदित्य सम्प्रदाय शुक्ल यजुर्वेद का प्रतिनिधि है दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, सोमयज्ञ, वाजपेय, राजसूय, अग्नित्रयन, वेदिनिर्माण,शतरूद्रीय होम, सौत्रमणि, अश्वमेघ, पुरुषमेघ, पुरुष सूक्त, सर्वमेध,शिवसंकल्प उपनिषद,पितृमेघ,प्रवर्ग्ययाग, ईशावास्योपनिषद् आदि विषय कृपण व शुक्ल यजुर्वेद के वर्ण विषय हैं। तैत्तरीय, मैत्रायणी कठ व कपिष्ठलकठ कृष्ण यजुर्वेद की शाखायें है व काण्व व माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद की शाखायें हैं।

अथर्ववेद :-

'थर्व' शब्द हिंसावाची है अथर्व का अर्थ अहिंसित वचन। चारो ऋत्विजों में 'ब्रह्मा' का सम्बन्ध इस वेद में है।'ब्रह्मा' यज्ञ का अध्ययन होता है और उसका कार्य है'त्रुटि परिमार्जन'। ऋक्,यजुः,और साम पारलौकिक विषयों से सम्बद्ध होता है। परन्तु अथर्ववेद परलोक के अतिरिक्त इहलौकिक विषयों से भी सम्बद्ध होता है।

महाभाष्य में अथर्ववेद की नव शाखाओं का उल्लेख मिलता है''नवधाऽथर्वणो वेदः''। ये नव शाखायें है- पिप्पलाद,स्तौद, मौद,शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवद,देवदर्श वा चारणवैद्य। ये सभी शाखायें पूर्णापूर्ण रूप में उपलब्ध हैं।

अथर्ववेद वैज्ञानिक तथ्यों से ओतप्रोत है। आयुर्वेद के उद्भावक अनेक तथ्य,रोग औषधियों के वर्णन इस वेद में है। आयुष्यवर्धक,पुष्टिकर्म सम्बन्धीप्रायश्चित सम्बन्धी राज्यकर्म संचालन,स्त्रियों के लिए उचित कर्मो के निर्देशों से समान्वित अनेक तथ्य तो हैं साथ ही आध्यात्मिक विषयों से युक्त अनेक सूक्त इस वेद में उपलब्ध हैं।

ब्राह्मणः साहित्य :-

"ब्राह्मणं ब्रह्म सधत्तें वेद भागे नपुंसकम्'' ग्रन्थ वाची ब्राह्मण शब्द नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होता है। मन्त्रों की यज्ञ परक गद्यात्मक व्याख्यायें ही ब्राह्मण हैं। ये ब्राह्मण साहित्य बडे ही महत्व पूर्ण है इस लिए मन्त्र व ब्राह्मण दोनो को वेद कहा गया है'' मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।'' सम्पूर्ण ब्रह्मण ग्रन्थ गद्यात्मक हैं। ऐसा सामान्य नियम

है कि हरवेद की हर शाखा का अपना ब्राह्मण, आरण्यक,उपनिषद एवं वेदांऽ्ग होना चाहिए। किन्तु आज सम्पूर्ण रूप में वैदिक वाङ्मय उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध ब्राह्मणों को संहिताओं के क्रम से इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है-

ऋग्वेद-शाकलशाखा-ऐतरेय ब्राह्मण

ऋग्वेद-बाष्कलशाखा-कौषीतकि अथवा शांखायन ब्राह्मण

सामवेद-जैमिनिशाखा-अर्षेय ब्राह्मण,तवलकार ब्राह्मण,छान्दोग्य ब्राह्मण

कृष्णयजुर्वेद- तैत्तिरीयशाखा - तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिताब्राह्मण भाग,

कृष्णयजुर्वेद- मैत्रायणीशाखा-मैत्रायणी संहिता(ब्राह्मणभाग)

कृष्णयजुर्वेद -करुणशाखा-काठ्क संहिता(ब्राह्मण भाग)

कृष्णयजुर्वेद- कपिष्ठलकठशाखा-कपिष्ठलकठ संहिता(ब्राह्मण भाग)

शुक्लयजुर्वेद-काण्वशाखा शतपथब्राह्मण।

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिन शाखा-शतपथ ब्राह्मण।

अथर्ववेद-शौनक शाखा-गोपथब्राह्मण।

जिस प्रकार संहिताओं में देवताओं के स्तुतियों की प्रधानता है उसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञों के विधि विधानो की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त अन्य जो भी विषय है वे इन्ही विधि विधानो के निर्वाहक मात्र है। इस लिए मीमांसक लोग इन विषयों को अर्थवाद की संज्ञा देते हैं। अर्थवाद में निन्दा व प्रशंसा होती है। करणीय कार्यो की प्रशंसा व अकरणीय कार्यो की निन्दा। शाबर भाष्य में ब्राह्मणों विषय वस्तु को इस प्रकार निर्देशित किया गया है

"हेतुर्निर्वचनं निंदा प्रशंसा संशयो विधिः।
परिक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण-कल्पना।।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्ययतु।"

आरण्यक :-

जिस प्रकार - मंत्रो की विधि परक व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थ है उसी प्रकार ग्रन्थों की ज्ञान परक व्याख्या आरण्यक है। वैदिक वाङ्मय स्थूल से सूक्ष्म की तरफ अग्रसर होता है। आरण्यक तक आते - आते विषय सूक्ष्म होने लगे,अतः चहल -पहल के वातावरण में ऐसे ग्रन्थो का अध्ययन कठिन प्रतीत होने लगा इस लिए आरण्य (जंगल) का आश्रय लिया गया है। अरण्य में अधीत होने के कारण इन्हे आरण्यक कहते हैं-"अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते।" में ग्रन्थ ब्रह्मणों के ही परिशिष्ट ग्रन्थ हैं। ब्राह्मणों के ही दो भाग किए जाते है अरण्यक और उपनिषद्।

प्राण विद्या का प्रतिपादन ही आरण्यकों का विशिष्ट विषय है। यह दीर्घकालीन परम्परा का परिणाम है। प्राण ही देवरूप है। वाणी में अग्नि,नेत्रों में सूर्य, मन में चक्षु, कानों में दिशायें है। यह प्राण की ही कला है। मन्त्रदृष्टा ऋषि की प्राण भावना से भवित है। प्राण ही शयन करते समय प्राणियों की ज्ञानेन्द्रियों का निवारण करता है अतः गृत्स है और रतिक्रिया में वीर्य के विसर्जनमय आनन्द से युक्त होने से भय है अतः'गृत्समद' है जो प्राण और अपात्र के सहयोग से उत्पन्न है। इसी तरह अन्य ऋषियों के विषय में भावनायें हैं। ऐसे सूक्ष्म विषय ही आरण्यकों के प्रतिपाद्य है। वैदिक संहिताओं के क्रम की दृष्टि से आरण्यग्रन्थ इस प्रकार हैं-

ऋग्वेद-शाकलशाखा ऐतरेय आरण्यक।

ऋग्वेद- बाष्कल शाखा-शांखायन आरण्यक।

कृष्णयजुर्वेद- तैत्तिरीय शाखा- तैत्तिरीय आरण्यक।

शुक्ल यजुर्वेद- काण्वशाखा- बृहदारण्यक(ब्राह्मण का सत्रहवा काण्ड)

शुक्ल यजुर्वेद- माध्यन्दिनशाखा- बृहदारण्यक(ब्राह्मण का चौदहवाँ काण्ड)

उपनिषद्:-

आरण्यक और उपनिषद् ब्रह्मण ग्रन्थों के ही परिणाम है। इतिहासकार ब्राह्मणों

का विभाजन इनदो रूपों में करते हैं वेदों के अन्तिम भाग होने के कारण उपनिषदों को वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषदों में वैदिक मन्त्रों के रहस्य हैं आध्यात्मकि चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में उपनिषद सम्पूर्ण संसार में अपना अग्रगण्य स्थान बनायें हैं। भारत के जगत गुरु का स्थान का प्राप्त कराते है।

उपनिषद शब्द की व्युत्पत्ति विद्धानों ने भिन्न-भिन्न तरह से किया है। उप् व नि उपसर्ग पूर्वक'सद् धातु से निष्पंन्न क्विप प्रत्यय करने पर उपनिषद् शब्द बना है- "स्देर्धातोर्विशरणगत्यव सायनार्थस्यमेयोनिपूर्वस्य क्विय प्रत्ययान्तरस्य रूपमिदमुपनिषदिति" (काठकोपनिषद् शंङकरभाष्य)

विशरण :-

उपनिषदों के अध्ययन से मोक्षार्थियों की अविद्या का विशरण(नाश) होता है।

गति :-

यह विद्या ब्रह्म को प्राप्त करा देती है(गति)

अवसादन:-

इस विद्या के अधिगम से सांसारिक दुःख सर्वथा अवसादित(शिथिल) हो जाते हैं।

इसीलिए तो इन्हे हम उपनिषद् कहते हैं। विद्यानों में उपनिषदों की संख्या के विषय में पर्याप्त मत भेद है। मुक्तिकोपनिषद् में उपनिषदों की संख्या 108 कही गई है। अधिकांश विद्धानों में उन निषदो को सर्वप्राचीन व प्रमाणिक माना है जिन पर आचार्य शंकु के भाष्य उपलब्ध होते है-

''ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरः।

ऐतरेयं च छान्दोग्यंबृहदारण्यकं दश।"

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः- अर्थात् बिना वास्तविक ज्ञान् के मुक्ति नहीं मिल सकती। वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति उपनिषदों का विषय है। क्योंकि उपनिषदों में

विभिन्न गूढ़ार्थ विषयों का प्रतिपादन किया गया है। श्रद्धा,ब्रह्मचर्य,तप व धैर्य ज्ञान प्राप्ति में सहायक होते है। यह ज्ञान प्राप्ति उपनिषद के लक्ष्यों में एक है।

उपनिषद् के वर्ण्य विषयों में ब्रह्मविद्या,ब्रह्मप्राप्ति के लिए की जाने वाली साधनायें,जीव माया, ब्रह्म आदि विषय महत्व पूर्ण हैं। ज्ञान की दृष्टि से कर्म की उपासना,कर्मसन्यास,अद्धैत,द्वैत,विशिष्टाद्धैतादि ने विविध स्वरूप,आत्मा के विविध स्वरूप आदि विषय भी उपनिषदो को महनीमूयक प्रदान करने मे सहायक होते हैं।

वेदांग :-

वेद और अंग को सयुक्त कर वेदांग शब्द बना है। वेद का अर्थ तो पहले बतालाया जा चुका है अब क्रम प्राप्त शब्द अंक है। अंक हम उसे कहेगें जिससे किसी के स्वरुप का ज्ञान" अङ्‌यन्ते ज्ञायन्ते समाभिरिति अंगानि" अतः वेदांग का अर्थ होगा जिससे वेदों के स्वरुप का ज्ञान हो उसे वेदांग कहते है। वेदों के स्वरूप ज्ञान के लिए छः विषयों का ज्ञान आवश्क होता है जिन्हे षड्वेदांग कहते है वे है- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष।

शिक्षा :-

शिक्षा प्राचीन काल के ब्याकरण ग्रन्थ हैं। शिक्षा मन्त्रोच्चारण विधि के शिक्षक है इस लिए कहा गया है-"स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते सा शिक्षा " यही शिक्षा ग्रन्थ प्रातिशाख्यों के आधार स्तम्भ बने। व्यास शिक्षा पाणिनि शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, याज्ञवल्क्यशिक्षा, माण्डव्य शिक्षा, वशिष्ठी शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, नारदीय शिक्षा, मालूकी शिक्षा,अबोधनप्दकी शिक्षा, वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा,माध्यन्दिनी शिक्षा,षोडशल्लकी शिक्षाआदि अनेक ग्रन्थ है। सन्1883 ई0 में बनारस सीरज से शिक्षा संग्रह नामक एक ग्रन्थ प्रकासित हुआ,जिसमें अनेक शिक्षा ग्रन्थो व उनके वर्ण विषयों को प्रकाशित किया गया है। इसके कारण अनेक शिक्षा ग्रन्थ जो अप्राप्त के प्राप्त हो गये। शिक्षा को वेद पुरुष का 'घ्राण' कहा गया है-'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य'।

कल्प :-

कल्प वेद में विहित कर्मो का आनुपूर्वी ढंग से कथन करने वाला शास्त्र है-" कल्यो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्वे व कल्पना शास्त्रम्"। ब्राह्मणों में वर्णित यज्ञ इतनी प्रौढ़ि व विस्तृति पर पहुँच गये कि मात्र उनके आधार पर कर्मकाण्डों का प्रतिपादन कठिन प्रतीत होने लगा अतः कल्पशास्त्रों के द्वारा उन कर्मकाण्डों के विषयों में पर्याप्त व सरल रूपेण प्रतिपादन किए गये।कल्प को वेद-पुरुष का हाथ कहा गया है-'हस्तो कल्पोऽथ पठ्यते'। जिस प्रकार हाथ के बिना किसी भी कार्य का प्रतिपादन कठिन होता है ठीक उसी प्रकार कल्पों के बिना वैदिक कर्मकाण्डों का प्रतिपादन कठिन है। कल्प को चार भागों में विभक्त किया गया है-श्रौतसूत्र,गृह्यसूत्र,धर्मसूत्र व शुल्वसूत्र।

श्रुतिप्रतिपादित बड़े-बड़े यज्ञों का विवरण श्रौतसूत्रों के अर्न्तगत किया गया है। दर्शपौर्णमास,पिण्डपितृयज्ञ,निरुढ़पशु,चातुर्मास्य,सोमयज्ञ आदि बड़े-बड़े यज्ञों के विवरण इनमें है। अश्वलायन, शङ्खायन, वैतान, बौधायन, अयरुतम्ब, हिरण्केशी वैरवानस, भारद्वाजामानव, वाधूल आदि श्रौतसूत्र विशेष उल्लेखनीय हैं।

द्वितीय कल्प 'गृह्यसूत्र' है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इसी वेदांग के अन्तर्गत आता है। मृध्याग्नि में होने वाले यज्ञ व संस्कारादि के वर्णन गृह्यसूत्रों में हैं। वैदिक संहिताओं के अनुसार जो गृह्यसूत्र उपलब्ध होते हैं। उनको इस प्रकार प्रदर्शित किया जात सकता है।

ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र :-

ऋग्वेद की विभिन्न शाखाओं में जो गृह्यसूत्र उपलब्ध होते हैं उनको इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है-

शांखायन गृह्यसूत्र :-

ऋग्वेद की शंखायन शाखा से सम्बन्धित होने के कारण इस गृह्यसूत्र को

शंखायन गृह्यसूत्र कहते हैं। इस गृह्यसूत्र का अंग्रेजी अनुवाद डॉ0 ओल्डनवर्ग ने किया है। गृह्यग्नि में होने वाले बहुविध यज्ञों के वर्णन हैं। इस गृह्यसूत्र में कुल छः अध्याय है। कुछ विद्यान केवल चार ही अध्यायों को मौलिक मानते है और अन्तिम दो अध्यायों को प्रक्षिप्त। गृह निर्माण व गृह प्रवेश के भी सुन्दर वर्णन इस गृह्यसूत्र में उपलब्ध होते हैं।

आश्वलायन गृह्यसूत्र -

ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा से सम्बद्ध होने के कारण इस गृह्यसूत्र को इस नाम से अभिदित किया जाता है। इस गृह्यसूत्र में चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय को खएडों में विभक्त किया है। संस्कारों के वर्णन के ही मध्यऋषितर्पण एवं प्राचीन आचार्यो के नामों का निर्देश किए गये हैं। इस गृह्यसूत्र की अनेक टीका में इसकी महनीयता को द्योतित करते हैं। जयन्त स्वामी की विमलोक्ष्यमाला,देवस्वामी का भाष्य,नारायण का भाष्य, हरदत्त की अनाविलाटीका आदि। इस गृह्यसूत्र की इतनी ख्याति हुई कि अनेक विद्धानों ने इसे कारिकाबद्ध भी किया जो 'आश्वलायन गृह्यसूत्रकारिक' के नाम से प्रसिद्ध है।'

कौषीतकि गृह्यसूत्र -

यह गृह्यसूत्र भी ऋग्वेद की कौषीतक शाखा से सम्बन्धित होने के कारण इस नाम से जाना जाता है। कुछ विद्धान शंखायन और कौषीतक को एक ही मानते है। अभी हाल में मद्रास से प्रकासित होने के पश्चात इस गृह्यसूत्र को शंखायन गृह्यसूत्र से अभिन्न मानने का तर्क नितान्त भ्रामक सिद्ध हो गया है। यह गृह्यसूत्र'शाम्भह्यगृह्यसूत्र के भी नाम से जाना जाता ह । इस गृह्यसूत्र में पाँच और प्रत्येक अध्याय सूत्रों में विभक्त है इस गृह्यसूत्र का प्रारम्भ विवाह संस्कार से होता है तथा अन्त में श्राद्व का वर्णन है जो पितृमेघ का एक अंक बतलाया गया है।

शुक्ल यजुर्वेदीय गृह्यसूत्र -

शुक्लयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों की संख्या के विषय में विद्वानो में वैमत्य है। बहुत दिनो तक निर्विवाद रुप से पारस्कर को ही एक मात्र गृह्यसूत्र माना जाता था, लेकिन वाद में बैजनाथ गृह्यसूत्र को भी शुक्ल यजुर्वेदीय माना जाने लगा। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है-

पारस्कर गृह्यसूत्र -

इस गृह्यसूत्र का क्षेत्र उत्तरप्रदेश है। इसकी वर्णनशैली बड़ी ही अनूठी है। इसमें तीन काण्ड है जिनमें प्रथम में आद्यवसाय अग्न्याद्यान, विग्रह,गर्भाधान,अन्नप्रनशन आदि संस्कारों के वर्णन हैं। द्वितीय काण्ड में चूड़ाकरणउपनयन समावर्तन पंचमहायज्ञ श्रवणाकर्मादि के वर्णन हैं। अन्तिम काण्ड में श्राद्व के पश्चात विविध प्रायश्चितों के वर्णन हैं। इस गृह्यसूत्र की लोकप्रियता तब निर्विवाद सिद्ध होती है जब हम इसकी टीकाओं पर दृष्टिगत करते हैं। कर्क,जयराम,हरिहर,गदाधर,विश्वनाथ आदि अनेक टीकाकारों ने अपनी लेखनी चलायी है।

बैजनाथ गृह्यसूत्र :-

इस गृह्यसूत्र के रचयिता वैजनाथ है इन्ही के नाम पर इनका यह नामाकरण हुआ। चरण व्यूह भी इसकी सत्ता को स्वीकार किया है। कुमरिलभट्ट, स्मृतिचन्द्रिका के प्राचीन व्याख्याकार अपरार्क,भगवद्दत्त आदि ने इस गृह्यसूत्र के उद्धरण को उद्घृत किया अस्तु आप भले ही यह गृह्यसूत्र उपलब्ध न हो रहा हो,लेकिन कभी इसकी सत्ता अवश्य रही होगी।

कृष्ण यजुर्वेदीय गृह्यसूत्र -

कृष्ण यजुर्वेदीय में अनेक गृह्यसूत्र है जो अपनी महनीयता के कारण लोक वियुत हैं। इन गृह्यसूत्र को संक्षिप्त रूप से इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है-

हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र-

यह गृह्यसूत्र कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है। इस गृह्यसूत्र को सत्याषाढ़ गृह्यसूत्र के नाम से भी जाना जाता है। संस्कारों के लिए आवश्यक अनेक मन्त्र इस गृह्यसूत्र में उल्लिखित हैं। इस गृह्यसूत्र के ऊपर मातृदत्त की व्यवस्था उपलब्ध होती है। सम्पूर्ण गृह्यसूत्र को दो भोगों में विभक्त किया है जिन्हे प्रश्न कहते है प्रत्येक प्रश्न अनेक पटलों में और अनेक खण्डों में विभक्त है।

बौधायनगृह्यसूत्र :-

बौधायन कल्पसूत्र का एक विशिष्ट अंश यह बौधायन गृह्यसूत्र कृष्णयुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है। सन् 1920 ई0 में मैसूर गवर्नमिष्ट ओरियन्टल लाइब्रेरी सीरिज में यह प्रकाशित हुआ था। यह गृह्यसूत्र चार प्रश्नों (अध्यायते) में विभक्त है जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार है-गृह्यसूत्र, ग्रहस्थपरिभाषासूत्र ,गृह्यशेषसूत्र तथा पितृमेघसूत्र। कुछ हस्तलेखों में इसके दस प्रश्न उपलब्ध होते हैं जिससे इसके परिवर्द्धन का संकेत मिलता है। विवाह संस्कार से इस गृह्यसूत्र का प्रारम्भ होता है तथा अन्त में पित्रमेघ व अन्तेष्टि वर्णन है।

भारद्वाजगृह्यसूत्र :-

भरद्वाज गृह्यसूत्र भरद्वाज कल्पसूत्र का एक अंश हैं इसका प्रकाशन डॉ0 सालोमन्स द्वारा हुआ है। यह गृह्यसूत्र कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है। इस गृह्यसूत्र में तीन प्रश्न है तथा प्रश्न खण्डों में विभक्त हैं। इस गृह्यसूत्र का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता है।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र :-

आपस्तम्ब कल्पसूत्र के सत्ताईसवें प्रश्न को आपस्तम्ब गृह्यसूत्र कहते हैं। यह गृह्यसूत्र भी कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है। इसके तीस प्रश्न है। यह 1928 में काशी से प्रकासित हुआ है। इस गृह्यसूत्र पर सुदर्शन की तात्पर्य दर्शन

व्याख्या व हरदत्त की अनकूलावृत्ति नामक टीका उपलबध होती है। इस गृह्यसूत्र में कुल 8 पटल, 23 खण्ड है। खण्डों के भीतर सूत्र है।

वैखानस गृह्यसूत्र :-

यह गृह्यसूत्र भी कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है। विद्वान इसे अवान्तरकालीन मानते हैं। विनियोगों में प्रयुक्त मन्त्रों का केवल प्रतीक ही उल्लिखित है। वैखानसीय मन्त्र संहिता के मन्त्रों का विनियोग विभिन्न अवसरो पर किया गया है। डॉ0 कैलैण्ड द्वारा इस गृह्यसूत्र का अंग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित किया है।

अग्निवेश्य गृह्यसूत्र :-

अग्निवेश नामक आचार्य प्रणीत होने के कारण इसका यह नामकरण है। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखान्तर्गत अग्निवेश नाम की उपशाखा को निर्मित किया गया। नारामणबलि, वानप्रस्थविधि, सन्यासविधि, यतिसंस्कार आदि विषयों को इसमें वर्णित किया गया है। अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थमाला में इस इस गृह्यसूत्र को प्रकासित किया गया है।

मानव गृह्यसूत्र :-

इसे मैत्रायणी मानव गृह्यसूत्र भी कहते है, अतः सिद्ध है यह गृह्यसूत्र कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से सम्बन्धित है। इस गृह्यसूत्र में दो पुरुष(प्रकरण) यह गृह्यसूत्र बडौदा से प्रकासित हुआ है। इस पर अपरावक्र की टीका उपलब्ध होती है। यह मानव नामकरण किसी आचार्य विशेष या शाखा विशेष के कारण था, स्पष्ट नहीं है।

वाराह गृह्यसूत्र :-

कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रयणी शाखा व वाराह नामक उपशाखा के अन्तर्गत यह गृह्यसूत्र है। इस गृह्यसूत्र में मैत्रयणी संहिता के मन्त्रों का विनियोग है। यह बहुत अंशों में काठक गृह्यसूत्र के साथ साम्य रखता है। यह आकार में बहुत छोटा

होता है। इसमें 21 खण्ड है। संस्कार ही इस गृह्यसूत्र में मुख्य वर्ण्य है।

काठक गृह्यसूत्र :-

कृष्ण यजुर्वेद की कठशाखा से सम्बन्धित होने के कारण इस काठक गृह्यसूत्र कहते है। इसे लौगाक्षि गृह्यसूत्र भी कहा जाता है। विद्वानो ने इसे दो प्रकार से विभाजित किये है। प्रथम के आधार पर 73 कण्डिकायें है। द्वितीय विभाग के आधार पर पाँच बडे- बडे अध्यांय हैं। पाँच अध्यायों के कारण इसे 'गृह्य पांञ्चिका" भी कहते है। ब्राह्मणबल व देवपाल की टीकायें इस गृह्यसूत्र पर उपलब्ध होती है।

सामवेदीय गृह्यसूत्र :-

सामवेद के चार गृह्यसूत्र उपलब्ध होते हैं जिन्हे इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है।

गोभिल गृह्यसूत्र :-

यह सामवेद की कौथुम शाखा से सम्बन्धित गृह्यसूत्र है। सामवेद के गृह्यसूत्रों में यह सर्वाधिक लोकप्रिया है। डॉ0 ओल्डेन वर्ग के अंग्रेजी अनुवाद' सेक्रेड बुक आफ इस्ट' सीरिज के तीसरे खण्ड में किया था। इस गृह्यसूत्र में गृह कर्मो के अवसरों पर मन्त्र ब्राह्मण नामक संग्रहात्मक ग्रन्थ से मन्त्रों को उद्घृत किया गया है। सामसंहिता के मन्त्रों के विनियोग किए गये हैं। मंत्र ब्राह्मण के मन्त्रों का विनियोग प्रतीक रूप में किया गया है परन्तु जो मन्त्र ब्राह्मण में नहीं है उनको सम्पूर्ण रूप में उल्लिखित किया गया है।

खादिर गृह्यसूत्र :-

सामवेद की राणायनी शाखा से सम्बन्धित यह गृह्यसूत्र गोमिल गृह्यसूत्र से लघु है व उसी पर पूर्णरूप से आधारित है।डॉ0 ओल्डेन वर्ग ने इसका अंग्रेजी'सेक्रेड बुक आफ इस्ट' सीरिज के उन्तीसवें खण्ड में किया था। इस गृह्यसूत्र के कुल चार पटल हैं तथा प्रत्येक पटल में पाँच-पाँच खण्उ हैं। चौथे पटल में चार ही खण्ड हैं।

द्राह्यायण गृह्यसूत्र :-

यह गृह्यसूत्र भी सामवेद की राणायनीय शाखा से सम्बन्धित है। इसका आकार न विषय वस्तु खादिर गृह्यसूत्र के ही समान है।

जैमिनीय गृह्यसूत्र :-

यह गृह्यसूत्र सामवेद की जैमिनी शाखा से सम्बन्धित है। यह गृह्यसूत्र दो खण्डों में विभक्त है प्रथम खण्ड में चौबीस कण्डिकायें न द्वितीय खण्ड में नव कण्डिकायें हैं। इसके पुरुष सूक्त की सात ऋचायें उपलब्ध हैं जो सामवेदानुसार हैं। श्री निवासाध वरी की ' सुबोधिनी' नामक टीका के साथ डॉ0 कैलेण्ड ने इसे लाहौर से प्रकासित किया हैं इसका प्रारम्भ पाकयज्ञतन्त्र से होता है तथा संस्कारों में सर्वप्रथम पुंसवन संस्कार का वर्णन है।

अथर्ववेदीय गृह्यसूत्र :-

जिस प्रकार अर्थवेद का एक ही ब्राह्मण गोपथब्राह्मण है उसी प्रकार इसमे एक ही गृह्यसूत्र कौशिक गृह्यसूत्र है।

कौशिक गृह्यसूत्र :-

अथर्ववेद का एक मात्र गृह्यसूत्र कौशिक गृह्यसूत्र चौदह अध्यायों में विभक्त है। इस गृह्यसूत्र पर हारिल व केशव की व्याख्यायें उपलब्ध हैं। आयुर्वेद व जादूटोना के लिए यह गृह्यसूत्र एक आदर्श है अथर्ववेद द्वारा किये जाने वाले विविध अनुष्ठानों का ज्ञान इस गृह्यसूत्र से होता है।

गृह्यसूत्रों का काल :-

वैदिक वाङ्मय के अन्य ग्रन्थों के समान गृह्यसूत्रों के काल के विषय में भी कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है। भारतीय विचारकों के सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय को कालानवच्छिन्न माना है लेकिन पाश्चात्य विद्वानों ने गृह्यसूत्रों के भी काल निर्धारण के विषय में अपनी लेखनी चलायी है।

गृह्यसूत्र के सैद्धान्तिक रूपों का सूत्रात्मक रूप ब्राह्मण व अरण्यक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। जिससे इनकी प्राचीनता दृष्टिगत होती है। कर्मकाण्ड की दृष्टि से ब्राह्मण आद्यग्रन्थ हैं। धीरे-धीरे ब्राह्मण ग्रन्थों में रूढ़िवादिता प्रचुर रूप में हो गई अतः लोगो का ध्यान उधर से हटता गया ब्राह्मण ग्रन्थों में आगत बलिप्रथा से लोग ऊब गये अतः ये रूप ग्रन्थों को प्रणयन हुए। मैक्डानल गृह्यसूत्र का काल500-200 ई0पू0 माना है। इस विषय में इनका कहना है कि सूत्र ग्रन्थों का काल बौद्ध धर्म के अभ्युदय के पूर्व का है।

कुछ भाषातत्त्ववेत्ता गृह्यसूत्रों को पणिनि के काल के ठीक पूर्व के मानते हैं। इस आधार पर गृह्यसूत्रों का काल 500-200 ई0पू0 ही ठहरता है। मैक्शमूलर गृह्यसूत्रों का काल 600-200 ई0 पू0 मानते है। अश्वलायन गृह्यसूत्र में कुछ ऋषियों के नाम उल्लिखित हैं तथा महाभारत में भी यही नाम उल्लिखित हैं। बौधायन गृह्यसूत्र में एक स्थान में भगवद्गीता का एक श्लोकउद्घृत है अतः विद्वान् 600ई0पू0 इसका काल मानते है। मेरी दृष्टि में बौधायन गृह्यसूत्र में भगवद्गीता का श्लोक नही बल्कि भवद्गीता में बौधायन गृह्यसूत्र का उद्धरण उद्घृत है। चिन्तामणि विनायक ने गृह्यसूत्रों का काल 1200 ई0पू0 माना है लेकिन में कोई ठोस प्रमाण नहीं दे पाते।

कल्प का तृतीय विभाजन धर्म सूत्र हैं वस्तुतः वेद की प्रत्येक शाखा के लिए अलग-अलग धर्मसूत्र होने चाहिए लेकिन ऐसा नहीं। गौतमधर्म सूत्र बौधायन, आपस्तम्ब व हिरण्यकेसी धर्मसूत्र,वशिष्ठधर्म सूत्र वैखानस धर्मसूत्र, विष्णुधम्रसूत्र उपलब्ध हैं इसमें चारो वर्णो के करणीयकृत्य जीविका का साधन व उनके राजधर्म के वर्णन मुख्यरूपेण वर्णित हैं। राजा के प्रति प्रजा के कर्त्तव्य,प्रजा का राजा के साथ्ज्ञ सम्बन्ध, व्यवहार के नियम आदि धर्म सूत्रों के प्रमुख वर्ण्य-विषय हैं।

कल्प का अन्तिम विभाजन शुल्व सूत्र के नाम से जाना जाता है। यह वेदांग

रेखागणित का सर्वप्राचीन रूप है। शुल्व का शाब्दिक अर्थ है रस्सी,अतः रस्सी के द्वारा नापी गई वेदी की रचना ही शुल्वसूत्रों के मुख्य प्रतिपाद्या विषय है। कर्मकाण्ड के साथ समन्धित होने के कारण गुल्वसूत्र यजुर्वेद की शाखाओं मे ही पाये जाते है। शुल्व सूत्र अनेक है। कृष्ण यजुर्वेद की अनेक शाखाओं में बौधायन,मानव,आपस्तम्ब,बाध ूल,वाराह, मैत्रायणीक आदि अनेक शुल्व सूत्र है।शुल्व यजुव्रेद में मात्र एक ही शुल्व सूत्र उपलब्ध है वह है कात्यायन शुल्व सूत्र। इन सभी शुल्व सूत्रों में बौघायन शुल्व सूत्र सबसे प्राचीन है। यह तीन परिच्छेदों में विभक्त है। सूत्र 22 से 62 तक रेखागणित के तथ्यों का सुन्दर निरुपण किया गया है। बौधायन शुल्व सूत्र पर दो टीकाये उपलब्ध है- द्वारकानाथ यज्वा और वेंकटेश्वर दीक्षित की। आपस्तम्ब शुल्व सूत्र पर कपर्दिस्वामी,करविलस्वामी,सुन्दरराज और गोपाल की टीका में उपलब्ध होतीं है। कत्यायन शुल्वसूत्र पर रामवाजपेय व महीधर की टीका में मिलती है। काशी के निवासी शिवदास ने मानव शुल्वसूत्र पर टीका लिखी है।

व्याकरण :-

तृतीय वेदांग व्याकरण है। व्याकरण द्वारा पद के स्वरूप का ज्ञान होता है।'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्ययन्ते शब्दा अनेनेति'। व्याकरण को वेद-पुरुष का मुख कहा गया है-'मुखं व्याकरणं स्मृतम्।' जिस प्रकार मुख के बिना एक शब्द भी बोला नहीं जा सकता और शरीर भी पुष्ट नहीं रह सकता ठीक उसी प्रकार व्याकरण के बिना एक भी शब्द नहीं बोला जा सकता और वेद पुरुष का शरीर भी क्षीण हो जायेगा। ऋग्वेद के एक मंत्र में व्याकरण को एक वृषभ के रूप में रूपायित किया गया है। इस वृषभ का नाम आख्यात, उपसर्ग एवं निपात-चार सींग बतलाये गये हैं। तीनों काल तीन पैर कहे गये हैं। सुप् और तिङ्-दो शिर कहे गये हैं। सातो विभात्तियाँ उसके सात हाँथ हैं वह उर कण्ठ और शिर-इन स्थानो में बाँधा गया है। यहाँ महान् देव है जो मनुष्यों में हैः-

"चात्वरि श्रृंगाः त्रयों अस्यपादाः द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्या आविवेश ।।"[1]

रक्षा, ऊह्, आगम, लघु, असंदेह, ये पाँच व्याकरण के मुख्य प्रयोजन है और अपभाषण से दूर रहना, दुष्टशब्द के प्रयोग से रोहित रहना, अर्थज्ञान,धर्मलाभ व नामकारण्यादि गौण प्रयोजन हैं। ऐन्द्र व्याकरण को सर्वप्राचीन व्याकरणग्रन्थ विद्वान मानते हैं। शिक्षा और प्रातिशाख्य ग्रन्थ व्याकरण के प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ है। पाणिनि व्याकरण व्याकरणों में सर्वाधिक समुन्नत व ख्याति लभ्य है।

निरुक्त :-

वेद के कठिन शब्दों कासमुच्चय निघण्टु है और निघण्टु के ऊपर लिख गयी टीका निरुक्त है। निरुक्त अनेक लिखे गये लेकिन सब कालकवलित हो गये,आज केवल महर्षि यास्क का ही निरुक्त उपलध है। कुछ विद्वान् निघण्टु और निरुक्त दोनों के कर्त्ता महर्षि यास्क को ही मानते हैं, लेकिन यह अवधारणा सही प्रतीत नहीं होती। दुर्गाचार्य के अनुसार निरुक्त चौदह हैं– "निरुक्तं चतुर्दशं प्रभेदम्"[2] यस्क के निरुक्त मे बारह निरुक्तकारो के नाम दिये हैं, तेरहवें निरुक्तकर्ता स्वयं महर्षि यास्क हैं , चौदहवें निरुक्तकार का बोध नहीं हो पाता है।

यास्क के निरुक्त में बारह अध्याय हैं,दो परिशिष्टाध्यायों को मिलाने से उनकी संख्यां चौदह हो जाती है। दुर्गाचार्य,निरुक्त निचय,स्कन्दमहेश्वर आदि निरुक्त के टीकाकार है। निरुक्त को वेदपुरुष का श्रोत कहा गया है।"निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।"

छन्द :-

बिना छन्दों के मन्त्रों का उच्चारण ही सम्भव नहीं है। इसी लिये छन्द को वेद पुरुष और पैर कहा गया है"छन्दः पादौ तु वेदस्य" छन्दो के ऊपर ही सम्पूर्ण मंत्र अवस्थित रहता है। वेदों में सर्वप्राचीन ऋग्वेद छन्दोवद्ध ही है। अतः छन्दो की सत्ता

1. ऋग्वेद – 4/56/6
2. दुर्गवृत्ति 1/13 – दुर्गाचार्य

संहिता काल से ही है।

मन्त्रों के अध्ययन, अध्यापन और यजन-याजन के सन्दर्भ में छन्दज्ञान अनिवार्य है इसी लिए सर्वानुक्रमणी का इस सन्दर्भ में कहना है कि जो व्यक्ति देवता ऋषि न छन्द ज्ञान के बिना उपर्यक्त कार्य करता है उसके सम्पूर्ण कार्य कालहीन हो जाते हैं।"या ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवत-ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजमति वा अध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छीति गते वा पात्यते या पापीमान् भवति"।[1] इससे स्पष्ट है कि मन्त्र व ब्राह्मण दोनो कालों में छन्दो का महत्त्व था। छन्द की दृष्टि उपलब्ध सर्व प्राचीन ग्रन्थ है- आचार्य विंगल का 'छन्दः सूत्र'। इस ग्रन्थ के ऊपर भट्ट हलायुध की 'मृतसंजीवनी' नाम की टीका विशेष उल्लेखनीय है। यहाँ छन्द से तात्पर्य गायत्री आदि वैदिक छन्दो से है। छन्द इसी उपयोगिता के कारण आगे चलकर संस्कृत साहित्य के लक्षणग्रन्थकारों ने तो यहाँ तक कहा कि छन्द के बिना तो कोई शब्द हो ही नहीं सकता।[2] 'ऋग्यभजुष्' परिष्टि में भी इसी तथ्य को स्वीकार किया गया है। दुर्गाचार्य का कहना है कि ये मंत्रों व ब्राह्मणों का आच्छादन करते हे इसी लिये इन्हे छन्द कहा गया है-" छन्दांसिछादनात्"।[3] ऋक्प्रातिशाख्य के पटल 16से 18 तक छन्दो के विषय में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। गायत्री,अनुष्टुप, उष्णिक् ब्रह्मणी,सतोवृह्ती, त्रिगुण, आदि प्रमुख वैदिक छन्य हैं।

ज्योतिष :-

यह अंतिम वेदांग है कर्मकाण्डीय दृष्टि से यज्ञ महत्त्व पूर्ण कृत्य है और यज्ञों के लिए उचित समय का भी ज्ञान परमावश्यक है। इस समय का ज्ञान हमें ज्योतिष के माध्यम से होता है। इसी लिए तो ज्योतिष को वेद पुरुष का नेत्र कहा गया है-'ज्योतिषामयनं चक्षुः"।

---

1. *सर्वानुक्रमणी 1/1*
2. *नाट्यशास्त्र - भरतमुनि 14/45*
3. *निरुक्त - 7/19*

वेदांग ज्योतिष का प्रतिनिधि ग्रन्थ ऋग्वेद और यजुर्वेद से सम्बन्धित है। ऋग्वेद से सम्बन्धित ज्योतिष ग्रन्थ है' आर्य ज्योतिष' और यजुव्रेद से सम्बन्धित ज्योतिष ग्रन्थ है-'यजुष ज्योंतिष'। अर्थ ज्योतिष में 36 श्लोक है'यजुष ज्योंतिष में 43 श्लोक हैं। वेदांग के कर्ता का नाम था'आचार्य संगध'।

प्रायः सभी वैदिक ग्रन्थों में सूर्य, चन्द्र, आकाश, उमा, रश्मि, नक्षत्र, ऋतु, मास, दिन, रात, मेघ व वायु के सम्बन्धों में अत्यन्त विशद व चमत्कारी वर्णन उपलब्ध होते हैं। विश्व की उत्पत्ति, विश्व का आपग होना सूर्य के कारण ऋतुओं की उत्पत्ति आदि विषय साक्ष्य रूपेण वर्णित हैं। सूर्य की सात रश्मियों का वर्णन उसके सात अश्वों के रूप में की गई है। वैदिक काल में पृथ्वी का गोलरूप होना व उसकी निराधारता का वर्णन उपलब्ध होते हैं। वर्ष तथा अयन के वर्णन के साथ ही ऋतुओं के विषय में भी पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद व तैत्तिरीय ब्राह्मण में सौरमास, चन्द्रमास तथा तिथि व दिन के विषय में भी पर्याप्त वर्णन है।

इस प्रकार ज्योतिष के आधार भूत मौलिक सिद्धान्त वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। उनके प्रमाणों से यह सिद्ध होता हे कि ज्योतिषशास्त्र अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में सुस्थापित है। यह कहना कि ज्योतिष पश्चिमी देशों से भारत में आया नितान्त भ्रामक व निःतथ्य है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध गृहयसूत्रों में वर्णित संस्कार आयुर्वेज्ञानिक दृष्टि में एक ज्वलन्त विषय है। आज के समय में लोंग संस्कारों को अवहेलना का दृष्टि से देख रहे है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के माध्यम से संस्कारों की मीमांसा आयुर्वेद की दृष्टि में करके उन्हें ाज के युग में उपादेय ग्रहणीय सिद्ध करने का प्रमाण किया जायगा।

विषय प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से इस शोध प्रबन्ध को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय गृहयसूत्रों वर्ण्यविषयों पर आधारित है। सम्पूर्ण गृहयसूत्रों के वर्ण्यविषयों संगृहीत कर समन्वयात्मक रूप में इस अध्याय में प्रस्तुत

किया जाएगा।

द्वितीय अध्याय आयुवेर्दिक व प्रमुख आयुर्वैज्ञानिक ग्रन्थों का एक संक्षिप्त परिचय है। संस्कृत अध्येता के लिए आयुर्वेद के ग्रन्थ लगभग अनध्ययन युक्त है अतः इस अध्याय में प्रमुख आयुर्वेदीय ग्रन्थों व आयुर्वेद के संक्षिप्त इतिहास का जिनका प्रयोग इस शोध प्रबन्ध में किया जाएगा का एक संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा।

तृतीय अध्याय 'संस्कारों के विधिविधान आयुर्वैज्ञानिक दृष्टि में' संस्कारों के जो विधिविधान है उनका आयुर्वेद की दृष्टि से क्या औचित्य है, इस विषय को प्रदर्शित किया जायगा। चतुर्थ अध्याय 'संस्कारों में प्रयुक्त मन्त्र-आयुर्वैज्ञानिक दृष्टि में' विविध ा संस्कारों में जो मन्त्र प्रयुक्त हैं उन मन्त्रों के जो अर्थ हैं वे आयुर्वेद की दृष्टि से कितने समीचीन है, इसका अध्ययन किया जायगा।

पाँचवे अध्याय में 'संस्कारों के अन्य औचित्य में इन संस्कारों का आयुर्वेद से अतिरिक्त और क्या प्रयोजन हो सकते हैं इस विषय पर दृंष्टिपात किया जाएगा।

मनुष्य का कोई भी कार्य पूर्ण व अन्तिम सत्य नहीं होता। यही सिद्धान्त इस शोध प्रबन्ध के विषय में भी लागू होगा। अतः नये आयामों के जुड़ जाने से या नये तथ्यों के संयुक्त हो जाने से मान्यतायें आगे पीछे भी जा सकतीं हैं। इसलिए विद्धज्जन इस शोध प्रबन्ध की त्रुटियों को क्षमा करने की कृपा करें।

अध्याय प्रथम
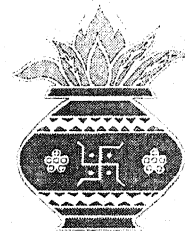
प्रथम अध्याय
गृह्यसूत्रों के वर्ण्य विषय

गृह्यसूत्र कर्मकाण्ड परक हैं। गृह्यसूत्रों में विशेषकर संस्कारों के वर्णन हैं। गृह्यसूत्रों में संस्कारों के अतिरिक्ति भी कई कर्म हैं जिन पर हम विचार करेंगे। 'प्रयोजनमनुदिदश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते'' अर्थात् बिना प्रयोजन के मन्द व्यक्ति भी किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। प्रवृत्त होना ही यह द्योतित करता है कि मनुष्य अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए कर्मव्यापार में दत्त चित्त होकर अपने को रूपायित कर देता है। धर्ममय क्रिया व्यापार ही मानव जीवन का लक्ष्य है। ये क्रिया व्यापार वैदिक संहिताओं ,ब्राह्मण ग्रन्थों,आरण्यकों,उपनिषदों एवं विविध वेदांगो मे उपलब्ध होते हैं।

यह संसार कर्मस्थली है। यहाँ कर्म की अनेकानेक कोटियाँ निर्धारित की गई है। इनमें सत्कर्मो द्वारा अभ्युदय की प्राप्ति होती है। इन्ही अभ्युदयदायक कर्मो का निरूपण गृह्यसूत्रों में है।

गृह्यसूत्रों का अध्ययन करने के पश्चात् जो तथ्य सामने आये हैं उनका निरूपण हम इस प्रकार कर सकते हैं -

(क) संस्कारातिरिक्त वर्ण्य विषय

गृह्यकर्मो के आवश्यक सह कर्म -

गृह्यसूत्रों में वर्णित गृह्यकर्मो के ऐसे कुछ आवश्यक सहकर्म हैं जिनका उल्लेख गृह्यकर्म का वर्णन करते समय हर जगह नहीं मिलता। ऐसे आवश्यक सहकर्मो को इस प्रकार निर्देशित किया जा सकता है -

दिशा निर्देशन -

जिन गृह्यकर्मो में दिशा का स्पष्ट उल्लेख नहीं है वहाँ पूर्व दिशा को

जानना चाहिए।[1]

समय सम्बन्धी निर्देशन :-

जिन गृह्यकर्मो में समय का निर्देश नहीं दिया गया है, उन्हें उत्तरायण सूर्य, शुक्लपक्ष व सुन्दर दिन में करना चाहिए।[2]

देवता सम्बन्धी निर्देशन -

जिस गृह्यकर्म में देवता निर्देशन नहीं किया गया है,वहाँ प्रजापति को देवता मानना चाहिए।[3] ऐसी स्थिति में जिस देवता के लिए कर्म किया जा रहा हो, उसी को देवता मानना चाहिए।[4]

पदार्थ सम्बन्धी निर्देशन :-

जिन गृह्यकर्मो में होमीय पदार्थो का निर्देशन न किया गया हो वहाँ घृत को पदार्थ के रूप में स्वीकार करना चाहिए।[5]

हाँथ सम्बन्धी निर्देशन -

जिन गृह्यकर्मो में हाथ का स्पष्ट उल्लेख न हो वहाँ दाहिने हाँथ को ही मानना चाहिए।[6]

कुछ अनिवार्य कर्म -

कुछ ऐसे अनिवार्य गृह्यकर्म हैं जो प्रत्येक गृह्यकर्म के साथ संयुक्त होते हैं, जैसे- यज्ञोपवीत धारण करना[7] शिखाबन्धन, आचमन करना, पवित्री धारण व संकल्प

1. 'प्राङ्मुखस्य प्रतीयात्' द्रा0गृ0सू0 1.1.14
2. उद्गायने.........कालं विद्यात्' गो0गृ0सू0प्र0प्र0प्र0क0 तृतीय सूत्र
   उद्गायन......कालोनादेशे - द्रा0 व खा0गृ0सू0 1.1.2
3. गो0गृ0क0प्र0पृ0 05
4. द्रा0 व खा0गृ0सू0 2.2.16
5. द्रा0 व खा0गृ0सू0 2.2.15
6. द्रा0 व खा0गृ0सू0 1.1.17
7. गो0गृ0सू01.1.2- यज्ञोपवीक्तोत्यादि च सम्भवत्सर्व कल्पैकल्पत्वक्षशांखा गृ0सू0 1.1.13

आदि। दक्षिणा व ब्राह्मण भोजन[1] भी अनिवार्य सहकर्म हैं।

अग्नि स्थापन :-

गृह्यकर्मों में प्रयुक्त होने वाले होमों के लिए अग्नि की स्थापना की जाती है। इसके दो भाग किये जाते हैं -अपूर्वाधान एवम् विच्छिन्नाधान।

ब्रह्मचारी वेदाध्ययन को पूर्णकर पश्चिम दिशा में समिधाओं को अग्नि में डालकर अग्नि स्थापन करें।[2] यह अग्निस्थापन उपनयन संस्कार हो जाने के बाद किया जाता है तथा समावर्तन संस्कार तक चलता है।

विच्छिन्नाधान का समय पाणिग्रहण संस्कार है। कन्यादान के समय पत्नी का हाथ ग्रहण करने के समय जिस अग्नि में लाजाहुति दी जाती है उसी अग्नि को गृह्याग्नि निश्चित करके अपने सम्पूर्ण कर्म करने चाहिए।[3]

यदि समाववर्तन काल अथवा विवाह के समय किसी कारणवश गृह्याग्नि न की गई हो तो गृहस्वामी की मृत्यु के बाद अन्त्येष्टि करके ज्येष्ठ पुत्र को गृह्याग्नि की स्थापना करनी चाहिए।[4] अग्नि स्थापना शुभ तिथि नक्षत्र से युक्त आमावश्या अथवा पूर्णिमा को करना चाहिए।[5]

अग्नि की स्थापना कैसे करे?:-

गृह्यसूत्रों में अग्नि स्थापना की प्रक्रिया भी बतलाई गई है। अग्नि स्थापन से एक दिन पूर्व दैनिक कार्यो को पूर्ण करके संकल्पादि पूर्वक जमीन को गाय के गोबर से लीपें और लिपे हुए स्थान के ऊपर वेदि का निर्माण करें। दूसरे दिन क्षौर कर्म करा कर स्नान कर शुभ वस्त्रों को धारण कर संकल्पादि प्रारम्भिक क्रियाओं को

---

1. *'कर्मोपवर्गे ब्राह्मणभोजनम्' - शांखा0सू0 1.2.1*
2. *शां0गृ0सू0 1.1.2*
3. *'वैवाह्यं वा' - शां0गृ0सू0 1.1.3*
   जायायाा वा पाणिं जिघृक्षन्' गो0गृ0सू0 1.1.8
4. *'प्रेते वा गृहपतौ' - शां0गृ0सू0 1.1.5, गो0गृ0सू0 1.1.12*
5. *गो0गृ0सू0 1.1.13, शां0गृ0सू0 1.1.6 और 1.1.7*

करके अग्नि को स्थापित करनी चाहिए। यह अग्नि कहाँ से लायें? इसके लिए विधान है कि सोमयाजी ब्राह्मण,क्षत्रिय वैश्य या भड़भूजे के यहाँ से लाये।[1] भूः भुवः स्वः इन तीन महाव्याहृतियों से अग्नि स्थापित करना चाहिए।[2] अग्नि के पश्चिम भाग में यजमान और उसके दाहिनी तरफ यजमान पत्नी बैठकर इस कृत्य को करें। अग्नि में एक समिधा बिना मन्त्र के डालना चाहिए। व्याहृतियों से घृतादि प्रदान करके उसमें पूर्णाहुति प्रदान करनी चाहिए। ब्राह्मण को दक्षिणा स्वरूप गौ प्रदान करके इस कार्य को समाप्त करना चाहिए।

उपर्युक्त वर्णन अपूर्वाधान क्रिया के अर्न्तगत है। विच्छिन्नाधान प्रक्रिया में अग्निशाला को निर्मित नहीं किया जाता । रात्रि जागरण व नान्दीश्राद्ध नहीं किया जाता। संकल्पादि प्रारम्भिक कार्यो को करके बीते हुए दिनों के गणनानुसार प्रायश्चित रूप में दक्षिणा प्रदान करके आहुति प्रदान करना चाहिए।

सायं प्रातः होमः-

सायं प्रातः होम को ही औपासन कर्म या औपासन होम कहते हैं। प्राक्प्रोक्त अग्नि स्थापन विधि द्वारा अग्नि स्थापित करके उसमें सायं प्रातः होम ही औपासन कर्म या औपासन होम है।[3] सायंकाल की होम सामग्रियाँ कृत अर्थात ओदन, दूध दही, यवागू अथवा अकृत् अर्थात यव आदि होते हैं।

हविष्येषु................वर्जयेत् ।[4]

इन हवियो में जो सायंकाल में प्रदान की जाती है वही प्रातःकाल में भी प्रदान की जाती है।

---

1. शां०गृ०सू० 1.1.8
2. गो०गृ०सू० 1.1.11
3. गो०गृ०सू० 1.1.23, व खा० तथा द्रा०गृ०सू० 1.5.6
4. क०प्र० 9.10

होम का समय :-

सूर्यास्त से पहले सायंकाल के व सूर्योदय से पहले प्रातःकाल के अग्नि को समिधा के द्वारा प्रज्ज्वलित करना चाहिए।

यदि आहुति रात्रिकाल में प्रदान करना हो तो सायंकाल में सूर्यास्त के बाद व प्रातःकाल में सूर्योदय से पहले आहुति प्रदान करे।

यदि दिन में आहुति प्रदान करना हो तो सायंकाल में सूर्यास्त से पहले और प्रातःकाल में सूर्योदय के पश्चात आहुति प्रदान करे।[1]

होम कैसे करें?:-

यजमान प्रारम्भिक क्रियाओं को करके आचमन एवं संकल्प के लिए वेदि के पश्चिम भाग में पवित्र जल को प्रणीता में रखे। सायंकाल में सूर्यास्त से पूर्व और प्रातःकाल में सूर्योदय से पहले अमन्त्रक समिधा को अग्नि में डालकर प्रज्ज्वलित कर लेवे। अग्नि के विक्षिप्त अवयवों को कुशा से इकट्ठा करना अर्थात परिसमूहन करना चाहिए। परिसमूहन के समय मन्त्रोच्चरण नहीं होना चाहिए। क्योंकि क्षिप्र होमों में परिसमूहन नहीं होता है- न कुर्यात...........वर्जयेत्।[2]

अग्नि का परिसमूहन करके दाहिने घुटने से जमीन पर बैठकर प्रणीता से अञ्जली में जल लेकर 'ऊँ आदितेऽनुमन्यस्व'[3] मन्त्र से अग्नि के दाहिने तरफ दक्षिण दिशा में[4] मन्त्र से पश्चिम दिशा में, 'ऊँ सरस्वत्यनुमन्यस्व[5] मन्त्र से उत्तर दिशा में जलांजलि प्रदान करना चाहिए। ऊँ देवः सवितः[6] मन्त्र द्वारा ईशान कोण से प्रारम्भ करके अग्नि के चतुर्दिक तीन बार परिक्रमा करनी चाहिए। होम के द्रव्यों को

1. द्रा0वखा0गृ0सू0 1.5.8व9, गो0गृ0सू0 1.1.27व 28
2. कात्यायन संहिता 9.5 व जै0गृ0सू0 3.14
3. तैत्तिरीय संहिता 2.3.1.2 व जै0गृ0सू0 3.14
4. खा0गृ0सू0 1.2.18
5. जै0गृ0सू0 3.14
6. जै0गृ0सू0 : 3.15, मं.ब्रा0 1.1.1

तीन बार जल से धोना चाहिए।[1] इसके बाद बिना मन्त्र के एक समिधा अग्नि में डालना चाहिए। इसके बाद एक आहुति अग्नि के नाम से देना चाहिए। यह आहुति अग्नि के मध्य में डालना चाहिए। ईशान कोण में प्रजापति के लिए मन में स्मरण करके देना चाहिए। इस प्रकार यह सायंकाल की होम प्रक्रिया है।

प्रातःकाल में प्रजापति व सूर्य के लिए हविषों की आहुति प्रदान करनी चाहिए। सायं व प्रातः के होम में इतना भेद है कि सायंकाल में पहले अग्नि को आहुति प्रदान की जाती है और प्रातःकाल में पहले सूर्य को आहुति प्रदान की जाती है। यह होम आजीवन करणीय है। यह गृह्याग्नि कभी बुझती नही। यदि कभी बुझ भी जाय तो प्रायश्चित करके पुनः प्रज्ज्वलित कर लेना चाहिए।

दर्शपौर्णमास :-

दर्श का अर्थ अमावस्या व पौर्णमास का अर्थ पूर्णिमा है। इस प्रकार अमावस्या व पूर्णिमा के दिए किए जाने वाले यज्ञ को दर्शपौर्णमास यज्ञ कहते हैं।

यज्ञकाल:-

जब प्रतिपदा तिथि का संयोग अमावास्या व पूर्णिमा के साथ हो तभी इस यज्ञ को करना चाहिए। जब अमावस्या व पूर्णिमा अहोरात्र व्याप्त हों तो उसी दिन अग्नि स्थापित करके दूसरे दिन यज्ञ करना चाहिए। यदि यह संयोग रात्रि में हो तो दूसरे दिन प्रातःकाल अग्नि स्थापित करके दूसरे दिन यज्ञारम्भ करना चाहिए। यदि यह संयोग दिन में हो तो उसी दिन प्रातः अग्नि स्थापित करके दूसरे दिन यज्ञ प्रारम्भ करना चाहिए।

प्रथम कौन:-

दर्श व पौर्णमास इन दोनों यज्ञों में सर्वप्रथम किसे किया जाय, गृह्यसूत्रों में इस विषय में भी उल्लेख प्राप्त होते हैं द्राह्यायण व खादिर गृह्यसूत्र इस विषय में

1. त्रिर्देवेभ्यः प्रक्षालयेत् – गो०गृ०सू० 1.7.5

कहते हैं कि पौर्णमास को पहले व दर्श को बाद में करना चाहिए।[1]

प्रारम्भिक नियम :-

इन यज्ञों के लिए यजमान जब से यज्ञीय स्थालीपाक करे तब से कहीं दूर न जाये। मितभाषी व सत्यभाषी होवे। वस्तुओं का क्रय विक्रय न करे। दोपहर में स्नानोपरान्त केवल एक बार ही भोजन करे। भोजन उपवास के समय ग्रहण करने योग्य हो भोजन थोड़ी मात्रा में हो। इन यज्ञों के दिन बतलाये गये भोजनों को अवश्य ग्रहण करे। शास्त्रीय वार्तालापों के साथ रात्रि जागरण होना चाहिए। पूर्णब्रह्मचर्य का पालन करे।

स्थालीपाक:-

संस्कारित पदार्थ ही देवताओं को देने योग्य होते है अतः यज्ञीय पदार्थो का संस्कार स्थलीपाक के द्वारा होना चाहिए।

सपत्नीक यजमान प्रातःकालीन नित्यक्रियाओं को करके संकल्प आदि प्रारम्भिक कार्यो को करे। आसन पर बिछाये गये कुशों को उत्तर दिशा में फेक देवें पुनः जल का स्पर्श कर लेवें। कुण्ड के उत्तर दिशा में दो, पश्चिम दिशा में दो और दक्षिण दिशा में एक आसन बिछा देवें। यजमान और ऋत्विक अपने-अपने आसनों पर बैठ जावें। यजमान ब्रह्म का वरण करे एवम् ब्रह्म कार्यसम्पादित करें। पलाश आदि 18 इध्माओं को यज्ञशाला में रखें। इसमें समिध, बहेडा निम्न लोध आदि इध्माओं का प्रयोग निषिद्ध होता है।

प्रतिपद तिथि को दैनिक व नित्यकार्यो को करके दो समिधाओं को अग्नि में डालकर प्रज्ज्वलित कर लेवे। यजमान प्रदीप्त अग्नि के पूर्व भाग से जाते हुए दक्षिण तरफ जाकर जल की धारा प्रदान करें। ब्रह्मा के आसन पर पूर्वाण मुख तीन कुशाओं को बिछायें ब्रह्म कुण्ड के पूर्वभाग से दक्षिण भाग में जाकर आसन के पूरब भाग में

1. 1.1.2

पश्चिम मुख करके खडा होवें। ऊँ निरस्तः परावसुः'[1] मन्त्र के पढ़ते हुए ब्रह्मा बिछाये हुए कुशाओं में से एक को उठाकर दक्षिण पश्चिम भाग में फेक कर जल स्पर्श कर लेवें। ऊँ आवसोः सदेन सीदामि[2] मंत्र को पढ़ते हुए उत्तर मुख करके आसन पर बैठ जावें तथा कर्मो में त्रुटि होने पर उसका परिमार्जन करे।

यजमान पूर्वाग्र व उत्तराग्र कुशाओं को बिछाये हुए कुशाओं पर पूर्व दिशा की तरफ यज्ञपात्रों को रखें। पात्रों पर जल छिड़क कर पवित्र कर लें। उलूखल, सूप मूसल आदि को अग्नि में थोड़ा सा तपा लेना चाहिए। हविष्यान्न से भूसी अलग पर देवताओं के लिए तीन बार मनुष्यों के लिए दो बार एवं पितृ कार्यो के लिए बार जल से प्रक्षालित करे।[3]

पवित्री बनाकर उसे परिमार्जित कर चरूस्थाली में रखकर हवि व जल डालकर पवित्री को बाहर निकाल कर चरू को पका लेवें पक जाने के बाद उसमें घी डालकर अग्नि से उतारकर अग्नि से उत्तर तरफ रखकर उसमें पुनः घी मिला लेवें।

हवन का विधि-विधान :-

यजमान नित्यकर्मो को पूर्ण करके ऊँ अदितेऽनुमन्यस्व'[4] मन्त्र द्वारा अग्नि के दक्षिण, नैऋत्य एवं आग्नेय कोण तक जल की अज्जलि प्रदान करें। ' ऊँ अनुमतेऽनुमन्यस्व'[5] मन्त्र से नैऋत्यकोण से वायव्य कोण तक ऊँ सरस्वत्यनुमन्यस्व'[6] मन्त्र से वायव्य से ईशानकोण तक एवम् ' ऊँ देवः सवितः'[7] मन्त्र से ईशानकोण से आग्नेय कोण तक जल की अञ्जलि प्रदान करें। अग्नि की परीक्रमा कर जल की धारा से अग्नि का पंर्युक्षण करे। अग्नि को समिधा से प्रज्ज्वलित करके एक ही बार

1. श०ब्रा० 1.5.1.3
2. ला०श्रौ०सू० 4.9.16
3. खा० व द्रा०गृ०सू० 2-10 व 12, गो०गृ०सू० 1.7.5
4. तै०सं० 2.3.1-2
5. जै०गृ०सू० 3.14
6. द्रा० व खा०गृ०सू० 1.2.18
7. मं.ब्रा. 1.1.1

हवि लेकर होम करे अथवा स्त्रुचि से स्त्रुवा में घृत लेकर मेछाण से हविष्यन्त्र लेकर अग्नि में डालकर इवन करे। पहले घृताहुति प्रदान करे तथा बाद में चरू की आहुति।

यज्ञवास्तु कर्मः-

'बिछायें गये कुशों को इकट्ठा करके उसके जड़, मध्य, तथा ऊर्ध्वभाग को ऊँ अन्तंरिहाणा'[1] मन्त्र से घृत या चरू में डुबा कर जल द्वारा उसे प्रोक्षित कर लेना चाहिए। अवशिष्ट भाग को ब्राह्मण खावे। ब्राह्मण को दक्षिणास्वरूप पूर्णपात्र या जो भी सन्तोषजन्य हो प्रदान करे।

व्रतः-

उपनयन होने के पश्चात् विद्याध्ययन प्रारम्भ होता है। इस अवधि में माणवक को ब्रह्मचारी कहते हैं। वेदाध्ययन की अवधि में ब्रह्मचारी को कुछ व्रतों का पालन करना पड़ता है। कुछ आचार्यो के मत में गोदानिक, व्रातिक, आदित्य, औपनिषदिक ज्येष्ठसामिक पञ्चव्रत हैं तो कुछ के मत में गोदान, व्रातिक आदित्य, महानाम्निक, औपनिषदिक, भौतिक और ब्रह्मसाम के नाम से अष्टव्रत है।

गोदान व्रतः-

गावः केशाः दीयन्ते खण्ड्यन्ते अस्मिन्निति गोदानम्'[2] ब्राह्मण का गोदानव्रत सोलहवें वर्ष में क्षत्रिय का बाइसवें वर्ष में और वैश्य का चौबीसवें वर्ष में किया जाता है। सर्वप्रथम संकल्पपूर्वक मुण्डन करावें।[3] इसमें सम्पूर्ण अंगों के बाल काटे जाते हैं। दिन में केवल एक ही बार हविष् के अन्न का भोजन करना चाहिए। गोबर से लीप कर कुश बिछा देवें एवम् आचार्य के सम्मुख शिष्य बैठे। सम्पूर्ण व्याहृतियों से आहुति प्रदान करने के पश्चात् इनु एवम् अनुमति के लिए भी आहुति प्रदान करें। वेदि को संस्कृत कर होम प्रक्रियानुसार सम्पूर्ण कार्यो को पूर्ण करके तीनों व्याहृतियों से तीन

1. *का0श्रौ0सू0 31.11*
2. *गो0गृ0सू0 पृ0 511*
3. *द्रा0 व खा0 गृ0सू0 2.5.1*

आहुतियाँ एवम् चौथी आहुति सम्पूर्ण व्याहृतियों के साथ प्रदान करें। ऊँ अग्नेय व्रतपते।[1] आदि पाँच मन्त्रों से पाँच आहुतियों को प्रदान करें। ब्राह्मण व नाई दक्षिण प्रदान कर इस कृत्य को समाप्त करें।

गोदानव्रत के कुछ पासनीय नियमः-

1. भूमिशयन
2. मांस व मदिरा का असेवन
3. सम्पूर्ण मैथुनों का त्याग
4. अलंकारों को न धारण करना।
5. शरीर को किसी भी प्रकार से अलंकृत न करना।
6. ज्यादा देर तक पैर न धोना।
7. बैल जुते हुए यान पर सवार न होना। आदि।

व्रातिक व्रतः-

इस व्रत के सभी कार्य गोदान की ही भाँति किए जाते हैं, संकल्प में केवल गोदान के स्थान पर व्रातिकव्रत का उच्चारण करना होगा। गोदानव्रत में जिन ग्रन्थों का श्रवण किया जाता है, व्रातिक व्रत में उन्हीं ग्रन्थों का अध्ययन किया जाता है इस व्रत की समाप्ति पर इन्द्र के लिए चरूस्थालीपाक करके आहुति प्रदान करे। ब्राह्मण को दक्षिणा देकर इसका समापन करें।

आदित्य व्रतः-

इसके भी सम्पूर्ण कार्य पूर्वव्रतों के अनुसार होते हैं। संकल्प में आदित्यव्रत का ऊह करना होगा। जिन लोगों ने आरण्यक ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया है वे आदित्यव्रत का अनुष्ठान नहीं करते।[2]

1. *मं.ब्रा. 1.6.10*
2. *गो0गृ0सू0 3.1.8, द्रा0 व खा0गृ0सू0 2.5.8*

नियम :-

1.व्रतकर्त्ता एक ही वस्त्र धारण करे।

2. सूर्य की किरणों को छाते से न रोके।

3. गहरे अर्थात जंघे तक जल में बिना गुरू की आज्ञा से प्रविष्ट न होवें

4. चरूस्थालीपाक करके हवन करे।

औपनिषदिक व्रत :-

इस व्रत में भी पूर्वव्रतों के ही नियम हैं। संकल्प में औपनिषदिक व्रत का ऊह करना होगा। इस व्रत में ब्राह्मण व उपनिषद् ग्रन्थों का श्रवण ब्रह्मचारी गुरूमुख से करता है। अन्त में ऐन्द्रीय चरूस्थालीपाक से आहुति प्रदान कर दक्षिणा पूर्वक इस कार्य का समापन करना चाहिए।

ज्येष्ठसामिक व्रत:-

इस व्रत के भी सभी कार्य पूर्वव्रतों के अनुसार होते हैं। नान्दीश्रद्ध व संकल्प आदि प्रारम्भिक कार्यो को करते हुए औपनिषदिक व्रत में श्रवण किए गये ग्रन्थों पर इस व्रत में मनन व चिन्तन किया जाता है। यह व्रत जीवनपर्यन्त चलता है।

नियम या आचार विचार:-

1. शूद्रा से विवाह न करे।

2. सात्विक भोज्य पदार्थो का ग्रहण करे।

3. देशों में से किसी एक देश व भोज्य पदार्थो में से किसी एक भोज्यपदार्थ का त्याग कर देवें।

4. कपास, रेशम, शण तथा ऊन में से किसी एक को त्याग देवें।

5. मिट्टी के पात्र को प्रयोग में न लावें।

6. किसी एक पात्र से ही प्रतिदिन शौच करें।

7. ब्रह्म व आचार्य को दक्षिणा देकर इस कार्य का समापन करें।

महानाम्निक व्रत:-

अध्ययन क्रम की दृष्टि से यह आदित्यव्रत के बाद आता है। आदित्यव्रत के समय श्रवण किए गये वैदिक गन्थों का इस व्रत में अध्ययन किया जाता है। इस व्रत का काल बारह या नव, छः या तीन वर्ष निश्चित किया गया है।[1] इस व्रत का काल व्रती की शारीरिक अवस्था पर ही निर्भर करता है। गृह्यसूत्रों में इस काल एक वर्ष भी हो सकता है।[2] इस एक वर्ष का अनुष्ठान वही कर सकता है जिसके पूर्वज इस व्रत का अनुष्ठान कर चुके हैं।

आचार-विचार :-

1. तीनों प्रहर स्नान करें।
2. प्रातः एवं सायं की आहुतियों के पहले कभी भोजन न करे।
3. कृष्णवस्त्रों को धारण करें व पकने के बाद काले होने वाले फलों का भोजन करें।
4. आचार्य के प्रति नम्र व्यवहार रखें।
5. अपनी शाखानुसार ही आचरण करें।
6. दिन में खड़े रहे।
7. भिक्षा के लिए ही बाहर जायें।
8. सन्ध्योपासन के लिए ही बैठें।
9. रात्रि बैठकर व्यतीत करें।
10. जल में भीगने पर घर या देवालय का ओट न लें।
11. यदि नदी को तैर कर या नौका से पार करना अपरिहार्य हो जाय तो संतरण से पहले या बाद में स्नान कर लेना चाहिए।

1. गो०गृ०सू० – 3.2.1–2
2. वही – 3.2.3

वैश्वदेव-बलिहरण :-

विभिन्न देवताओं को आहुति प्रदान करना वैश्वदेव नामक यज्ञ है इसे ही देवयज्ञ कहते है। विविध प्रकार के प्राणियों,ऋषियों पितरों को बलि प्रदान करना बलिहरण है। इस प्रकार इन दोनों शब्दों के योग से बलिहरण शब्द निष्पन्न हुआ है। गृह्यसूत्रों में बलिहरण के विषय में तो पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होते है, परन्तु वैश्वदेव के विषय में कम उल्लेख मिलते है।

गृह्याग्नि को महानस् में ले जाकर अन्न को पकाना चाहिए अन्न सिद्ध हो जाने पर कुछ अग्निकुण्ड में पुनः डाल देवें। स्नानादि क्रियाओं को करके अग्नि के पश्चिम भाग में पूर्व मुख करके बैठ जावें। संकल्पादि प्रारम्भिक कार्यो को करके अग्नि को परिसमूहित कर प्रज्ज्वलित कर लेवें। पूर्ववर्णित पाकयज्ञानुसार पकायी गई हवि को ऊँ प्रजापतये स्वाहा' एवं 'ऊँ स्विष्टकृते स्वाहा' वाक्यों को मन में उच्चारित करते हुए गृह्याग्नि में दो आहुतियों को प्रदान करें। इसके पश्चात् अन्य देवताओं को आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिए। अग्न्याधान में बतलाई गई विधि के अनुसार अग्नि का पर्युक्षण करना चाहिए।

वैश्वदेव के पश्चात् बलिहरण यज्ञ करना चाहिए। वैश्वदेव की बची हुई हवि से बलिहरण कार्य करना चाहिए। अवशिष्ट बलि को गोबर से लीप कर शुद्ध किए गये स्थान में रखना चाहिए। बची हुई बलि का चार भाग करके उन पर जल छिड़के। प्रथम बलि प्रथ्वी, द्वितीय बलि वायु, तृतीय विश्वदेव और चौथी प्रजापति को प्रदान करनी चाहिए। इसके बाद दश बलियाँ ओषधि आदि को प्रदान करनी चाहिए।[1] पितरों को प्रदान की गई बलियों के पहले की नव आहुतियाँ मणिदेश, गृह्यमध्य गृहद्वार, शैय्या के पास कूड़ाकरकट रखने के स्थानों आदि पर देनी चाहिए। बलि प्रदान करने के पश्चात बलियों प्रर जल सिंचन अवश्य करना चाहिए। पितरों को बलि दक्षिण दिशा में

---

1. *शांख्यायन गृह्यसूत्र - 2.4.12-18*

प्राचीनावीति होकर प्रदान करना चाहिए। देवताओं को बलि स्वाहाकार के साथ व पितरों को स्वधाकार के साथ रखना चाहिए। ब्राह्मण को खिलाने के लिए या स्वयं खाने के लिए जो अन्न पकाये गये हो उनसे पितरों को बलि प्रदान किया जा सकता है। बलि प्रदान करने के पश्चात् ही भोजन किया जा सकता है लेकिन गृह्यसूत्र कारों ने बालकों, रोगियां, गर्भधारण करने वाली स्त्रियों के विषय में शिथिलता बतलाया है। ये बलियाँ सायं व प्रातः दोनों समय प्रदान की जाती है। यदि ये बलियाँ किसी प्रहर छूट जाय तो प्रायश्चित करके पुनः शुरू करना चाहिए। यदि एक प्रहर का बलि में व्यवधान होता है तो चौबीस घण्टे का उपवास होगा यदि दोनों प्रहर छूट जाय तो वैश्वानरीय स्थायी पाक होगा।

उपाकरण :-

उपाकरण को ही उपकर्म नाम से भी अभिहित किया जाता है। इसमें वैदिक वाऽमय का अभ्यास किया जाता है। गोदानिक व्रत में जिन वैदिक वाङ्मय का श्रवण किया हो उपाकरण में उन्ही का अभ्यास किया जाता है। शांखयन गृह्यसूत्र का कहना है कि 'ओषधीनां प्रादुर्भाव[1] अर्थात् तृण वीरुदादि का प्रदुर्भाव होने पर उपाकरण को करना चाहिए।'हस्तेव श्रवणेन वा'[2] पारस्कर गृह्यसूत्र तो श्रवणमास की पंचमी को भी इसका प्रारम्भ मानते है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में भाद्रपद की हस्त नक्षत्र युक्त पौर्णमासी को उपकरण या उपाकर्म का प्रारम्भ मानते है[3] सामवेदीय जैमिनी गृह्यसूत्र श्रावणमास की पूर्णिमा को इसका प्रारम्भ मानता है श्रावण्यामुपाकरणम्।[4]

सामान्य प्रारभिभक कार्यो को करके वृद्धिश्राद्ध करें। ऋषि आचार्य व पितरों को तर्पण करके अग्नि कुण्ड के पास बिछायें गए कुशों के पश्चिम तरफ पूर्वमुख करके आसीन होवें। सर्वप्रथम अग्नि को प्रज्जवलित करके तीन व्याहृतियों से तीन आहुतियाँ

1. शां0गृ0सू0 4.5.2
2. शां0गृ0सू0 4.5.3
3. गो0गृ0सू0 3.3.1, खा0 व द्रा0 गृ0सू0 3.2.15
4. 14. 4

प्रदान करें। पास में पंक्ति में बैठें हुए शिष्यों को यथाक्रम गायत्री मन्त्र का पाठ कराया गया हो उसी रीति से मन्त्र का अभ्यास करावें। इसके बाद अपनी वेद शाखा के मन्त्रों,ब्राह्मणों,आरण्यकों,उपनिषदों,वेदागों के वाक्यों से आहुतियाँ प्रदान करें व अभ्यास करें । स्वकल्याणार्थ रक्षा सूत्र को अपनी दाहिनी भुजा में बाधें तथा'ऊँ धानावन्तम्'[1] मन्त्र को पढ.ते हुए उसे भून कर रखे गये जौ को दधि से निकाल कर निगल जाने एवं 'ऊँ दधिक्रब्णों'[2] मन्त्र पूर्वक भक्षण करें। आचमन कर सभी शिष्य यथा स्थान बैठ जायें। आचार्य भी रक्षा सूत्र धारण कर लेवें। तत्पश्चात् अपनी शाखा के मन्त्रों,ब्राह्मणों,आरण्यकों ,उपनिषदों एवं वेदांगों का अध्यापन करावें। उपारकण के बाद आरण्यक ग्रन्थों का अध्ययन छोड़ दें।[3] ब्राह्मणों को भोजन कराकर एवं दक्षिणा देकर इस कार्य का समापन करें।

अनध्याय :-

न अध्याय अनध्याय अर्थात वेदों को न पढ.ना। कुछ ऐसे समय में निश्चित किये गये हैं जिनमें वेदाध्ययन निषिद्ध होता है जैसे- उपाकरण से दूसरे दिन वेदाध्ययन निषिद्ध है। कुछ आचार्य उपारकण से तीन दिन तक वेदाध्ययन निषिद्ध मानते है।[4] जो आचार्य उपाकरण को श्रावणी न करने का विधान मानते हैं उनकी धारणा है कि उपाकरण करने के पश्चात् तब तक अनध्याय करना चाहिए जब तक भाद्रपद मास में हस्त नक्षत्र न आ जाय। इसके अतिरिक्त तब तक भी अनध्याय रखना चाहिए।

1. जब पुष्य नक्षत्र तिथि हो।
2. गायन वादन हो रहा हो।
3. बिजली चमक रही हो।

1. सा0सं0 पू0 3.1.2.7
2. सां0सं0पू0 4.2.7.7
3. द्रा0 व खा0गृ0सू0 3.2 22
4. गो0गृ0सू0 3.3.11

4. वर्षा हो रही हो। या बादल छाये हो।

5. अन्य कोई प्राकृति प्रकोप हो।

6. ग्रहण लगा हो।

7. अष्टका अमावस्या या पौर्णमासी हो।

8. ब्रह्मचारी का निधन हो गया हो।

9. आचार्य का निधन हो गया हो।

प्रायाश्चित : -

व्यक्ति से कोई दोष पूर्ण कार्य हो गया हो तो उसे अनिष्ट की प्राप्ति होती है अतः इसके निराकरण के लिए प्रायाश्चितों के विधान गृह्यसूत्रों में किये गये हैं। अनिष्टफल की शान्ति के लिए गायत्रीमन्त्र से चार आहतियाँ प्रदान करनी चाहिए। यदि घर में लग हुए बाँस फट जाँय अथवा कोई खम्भा टूट जाय तो तीन व्याहृतियों से तीन आहुतियाँ प्रदान करके पुनः पूरे मन्त्र के साथ चौथी आहुति प्रदान करनी चाहिए। कष्ट सम्भावित स्वप्न देखने पर ऊँ अद्य नो'[1] मन्त्र का स्वरानुसार जप करना चाहिए। सोमयज्ञो के यूप का स्पर्श होने पर, आँखों के फडकने पर, सूर्योदय व सूर्यास्त के पश्चात् खोने पर,कानों में अचानक शब्दों के सुनाई पड.ने पर, कष्ट सम्भावित स्वप्न देखने पर ऊँ अद्य नो' मन्त्र का स्वरानुसार जप करना चाहिए। सोम यज्ञों के थूप का स्पर्श होने पर आँखों के फडकने पर ,सूर्योदय व सूर्यास्त के पश्चात् खोने पर कानों में अचानक श्सब्दों के सुनाई पड.ने पर, दुर्भावना से इन्द्रियों का स्पर्श करने पर 'ऊँ पुनर्मान्'[2] ऊँ पुनर्मनः[3] मन्त्रों से घृताहुतियाँ प्रदान करनी चाहिए। घृत कम हो तो घृत लपेटी हुई लकडी से ही आहुति प्रदान करनी चाहिए। यदि दुर्भावनावशात् इन्द्रिय स्पर्श न किया हो केवल मन में दुर्भावना ही आयी हो तो

1. सा0सं0पू0 2.1.5.7
2. मं.ब्रा. 1.6.33
3. मं.ब्रा. 1.6.34

उपर्युक्त दोनो मन्त्रों का केवल जप ही करना चाहिए।

गोपुष्टि :-

हिन्दू धर्म में गायों के प्रति आपार श्रद्धा है गायों को माता कहा जाता है। विविध यज्ञों के लिए गोघृत की आवश्यकता होती है। गायों के पुष्ट रहने पर ही घृत सम्भव है। अतः इसके लिए भी गृह्यसूत्रों के कर्म वर्णित है।

गायों की पुष्टि के लिए सर्वप्रथम नान्दी श्राद्ध व संकल्पादि प्रारम्भिक कार्यो को करके जंगल में चरने के लिए जाती हुई गायों को 'ऊँ इमा में विश्वतः'[1] मन्त्र का पाठ करते हुए देखे।-ऊँ इमा मधुमती'[2] मन्त्र द्धारा गायों का आमन्त्रण करें। जब गायों के बछडें पैदा हों तब श्लेष्मायुक्त बछडें के शिर-को गाय द्वारा चाटने के पूर्व ही गोपालक चाहे मन में'ऊँगवां'[3] मन्त्र का उच्चारण करें।

गोपुष्टि के लिए गृह्यसूत्रों का विलपन होम विधान किए गये हैं। ऐसी दधि जिसे मथा तो गया हो लेकिन जिसका घी न निकाला गया हो उससे होम करना चाहिए। होम में 'ऊँ संग्रहणम्'[4] मन्त्र का प्रयोग करना होता है। इस होम में व्याहतियों से आहुतियाँ नही प्रदान की जाती है।

गो पुष्टि के लिए गो-यज्ञ करने का भी विधान है। पुष्य नक्षत्र में पौर्णमास विधि से स्थालीपाक करने अग्नि,पूषा इन्द्रादि के लिए आहुतियाँ प्रदान की जाती है। इस यज्ञ से पायस वंस होता हें बैल की सींग को गन्ध, घण्टा अभूषणादि से सुसज्जित कर पूजना चाहिए। ब्राह्मण को दक्षिणा देकर इस कार्य का समापन करना चाहिए।

गायों कीपुष्टि के लिए दोनों कानों को देखने की भी प्रक्रिया है। नान्दीश्राद्ध

1. मं.ब्रा. 1.8.1
2. मं.ब्रा. 1.8.2
3. मं.ब्रा. 1.8.3
4. वही 1.8.7

व संकल्पादि प्रारम्भिक कार्यो को करके ऊँ भुवनमसि'[1] एवम 'ऊँ गोदोषणमसि'[2] इन दोनो मन्त्रों से दोनो कानों पर बनाना चाहिए या छेदना चाहिए। यदि बछडा न बछिया एक ही साथ पैदा हो तो पहले बछडे का छेदन होगा,फिर बाद में बछिया का पहले दाये कान का छेदन होना चाहिए फिर बायें कान का। ऊँ लोहितेन'[3] मन्त्र से छिदे हुये स्थान का अनुमन्त्रण करना चाहिए। 'ऊँ इयं तन्वी'[4] मन्त्र से पशु का रस्सी को फैलाकर पुनः समेटना चाहिए।

अश्व यज्ञ :-

जिस प्रकार गायों की पुष्टि के लिए गो यज्ञ का विधान है उसी प्रकार आखों की पुष्टि के लिए अश्वयज्ञ का विधान गृह्यसूत्रों में उपलब्ध है। इसके सभी कार्य गो यज्ञ के ही समान है, अन्तर केवल इतना है कि अग्नि,पूषा, इन्द्रादि की आहुतियों के पश्चात् यम व वरुण को आहुतियाँ प्रदान की जाती है।

श्रवण कर्म :-

'श्रवणश्रविष्ठीयायां पौर्णमास्यामक्षतसक्तूनां स्थालीपाकस्य वा जुहोति'[5]

अर्थात् जब श्रावणमास की पूर्णिमा घनिष्ठा नक्षत्र से युक्त हो तो श्रवणाकर्म का प्रारम्भ करना चाहिए। गोभिल गृह्यसूत्र भी इसी मास व तिथि को मानता है।[6] यह पाकयज्ञ सम्पूर्ण जीवन करणीय होता है। श्रावणमास की पूर्णिमा से लेकर अगहन मास की पूर्णिमा तक इस कार्य को किया जाता हे।

श्रावणमास की पूर्णिमा को नित्य क्रियाओं को सम्पन्न करके इस कार्य के भाग स्वरूप नान्दी श्राद्ध को करना चाहिए।गृह्याग्नि से पूरब तरफ वेदि को निर्मित

1. मं.ब्रा. 1.8.4
2. वही 1.8.6
3. वही 1.8.7
4. वही 1.8.8
5. शां0गृ0सू0 4.15.1
6. गो0गृ0सू0 3.6.13

कर उसमें अग्नि स्थापित करना चाहिए। इसके उत्तरभाग में जौ भूनकर उलूखल में कूट कर सत्तू बना लेवें। सत्तू को प्रणीता में रखकर सूप से तोपकर अग्निशाला में रख देना चाहिए।

प्रातः सत्तू तैयार कर सूर्यास्तोपरान्त गृह्याग्नि व वेदि के बीच में पश्चिम दक्षिण के कोण से जाकर पूरब मुख करके बैठ जाना चाहिए। प्रणीता से न्यमस में निकाले गये सत्तू को दर्वी में लेकर 'ऊँ यः प्राच्याम्'[1] मन्त्र से आहुति प्रदान करें। सर्पो के लिए आहुतियाँ प्रदान करें।[2] बचे हुए सत्तू द्वारा गृह्याग्नि में बिना मन्त्र के आहुति प्रदान करना चाहिए। गृह्याग्नि के पश्चिम भाग में पूरब मुख करके हाथों की अंगुलियों के मध्यभाग से भूमि को छूकर –ऊँ नमः प्रथिव्यै'[3] मन्त्र द्वारा जप करें श्रवण, अग्नि, प्रजापति, विष्णु व विश्वेदेवो को पाँच आहुतियाँ प्रदान करें। ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर इस कार्य को पूर्ण करते हुए द्वितीय दिन गृह्याग्नि में सत्तू तैयार करके किसी पात्र में भरकर यज्ञशाला में रख देवें। इसी दिन से अगहन मास की पूर्णिमा तक प्रतिदिन दोनो समय अर्थात् सायं प्रातः मौन भाव से बलि प्रदान करें।

आग्रहायणी कर्म :-

गोभिलदि गृह्यसूत्र अगहन मास की पूर्णिमा को इसका प्रारम्भ मानते है लेकिन इस विषय में शांखायन गृह्यसूत्र का कहना है कि अगहन मास के शुक्ल पक्ष में जिस दिन रोहिणी नक्षत्र हो उसी दिन इस कार्य का प्रारम्भ करना चाहिए।[4] सत्तू का बलि प्रदान श्रवणाकर्म के समान होता है। ऊँ नमः पृथिव्यै[5] मन्त्र का जप इसमें नहीं होता। प्रातःकालीन आहुतियों को प्रदान करने के पश्चात् सत्तू व अक्षत बिना

1. *मं.ब्रा. 2.1.1*
2. *शां0गृ0सू0 4.15.4 – 4.15.13*
3. *मं.ब्रा. 2.1.5*
4. *आग्रहायण्यां प्रत्यवरोहेत्' 4.17.1*
   रोहिणां प्रोष्ठययासु वा'
5. *मं.ब्रा. 2.1.5*

मन्त्र के अग्नि में डालकर ब्राह्मणों द्वारा स्वास्तिवाचन पूर्वक दर्भ शमी, बीरण, शिरीष, फलयुक्त बेर की शाखा व अपामार्ग को अग्नि में सुलगाकर अग्न्यागार से ले जाकर सभी घरों में घूमकर इनको फेक देना चाहिए। बालू मिलाकर बनाई गई वेदिकाओं पर 'ऊँ वास्तोष्यते'[1] मन्त्र द्वारा तीन बड़े जलपात्रों को स्थापित कर 'ऊँ समन्या'[2] मन्त्र से दो घड़ो द्वारा उनमें जल भरना चाहिए। सायंकाल में पाय चरूस्थालीपाक करके ऊँ प्रथमा हत्युवास'[3] मन्त्र से उस पायसचरू की आहुति प्रदान करना चाहिए। इसके बाद महात्याहतियों का जप करना चाहिए। इस कार्य को करके ब्राह्मण को दक्षिणा देकर कार्य समापन करना चाहिए।

स्वस्तरारोहण :-

अग्नि के पश्चिम तरफ उत्तराग्र बिछपि हुए कुशासन पर ऊन या कपास का विछौना बिछायें। विस्तर पर दक्षिण तरफ पूरब मुख करके घर का स्वामी बैठ जाय। उनके बायी तरफ उम्र क्रम से सभी लोग बैठ जॉय। अन्त में स्त्रियाँ भी उम्रक्रम से बैठ जाय। घर का स्वामी स्वास्तिवाचन करते हुए दोनों हाथों को नीचे करके 'ऊँ स्योना पृथिवि'[4] मन्त्र का जप करें। दक्षिण करवट करके पूरब शिर करके सभी लेट जॉय। यह लेटने व उठने का क्रम तीन बार होना चाहिए। स्वस्त्ययन मन्त्र का उच्चारण करते हुए जलस्पर्श करके इस कार्य को सम्पूर्ण करना चाहिए।

आश्वयुजीकर्म :-

जैसा नाम से ही स्पष्ट है आश्विन मास की पूर्णिमा को किया जाने वाला कर्म आश्वयुजी कर्म कहलाता है।[5] आश्वयुजी कर्म आत्मसंस्कार के लिए किया जाता है। संकल्प गणेशपूजनादि प्रारम्भिक कार्यो को करके दूध दही व घृत (पृषातक) मिलाकर

1. सा0सं0पू0 3.2.9.3
2. जै0गृ0सू0 16.3
3. मं.ब्रा. 2.2.1
4. मं.ब्रा. 2.2.4
5. 'आश्वयुज्यां पौर्णमास्यामैन्द्रः पायसः' शां. गृ.सू. 4.16.1

हवि तैयार करके रूद्र देवता के लिए निर्वाह करना चाहिए। आठों नामों से आठ आहुतियाँ प्रदान करना चाहिए।[1] अग्नि की प्रदक्षिणा करके उस दहि, दुग्ध एवं घृत मिश्रण को ऊँ तच्च'[2] मन्त्र से ब्राह्मणों को दिखलावें। ब्राह्मणों को खिलाकर एवं स्वयं खाकर आचमन करके लाक्षामय मणियों एवं सर्वोषधि को एक वस्त्र में बाँधकर दाहिनी भुजा के बाँह में बाँध लेवें। यह पृषास्तक सायंकाल में गायों को भी यदि पिला दिया जाता है तो गायों का कल्याण होता है। ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर इस कार्य का समापन करना चाहिए।

नवान्नयज्ञ :-

इसे नव यज्ञ के भी नाम से जाना जाता है। जिस दिन यह यज्ञ करना हो उस दिन प्रातः कालीन व दैनिक कार्यो को पूर्ण करके पूर्ववर्णित पौर्णमास यज्ञ की विधि ा के ही अनुसार स्थालीपाक करना चाहिए। पकाये हुए चरू से मुख्य आहुति इन्द्र व अग्नि के नाम से प्रदान की जाती है। तत्पश्चात् चार घृताहुतियों को प्रदान करे।[3] हवि पर जल छिंड़कर 'ऊँ भद्रान नः श्रेयः'[4] मन्त्र द्वारा बिना स्वाद के चरु का भक्षण करें। तीन बार चरु भक्षण मन्त्र द्वारा एवं चौथी बार चरु भक्षण बिना मन्त्र के करना चाहिए। चरू भक्षण के बाद मन्त्रपूर्वक[5] मुखादि अंगों का स्पर्श करें। वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने वाले 'ऊँ अग्नि'[6] मंत्र से सावाँ की हविका एवं 'ऊ एतमुत्यम'[7] मन्त्र से यव की हवि का भक्षण करें। दक्षिणापूर्वक कार्य समापन करें।

अष्टका :-

आग्रहायण (अगहन) मास की पूर्णिमा के बाद अपर पक्ष (कृष्ण पक्ष) में तीन

---

1. *गृह्यासंग्रह 2.60 (आठो नामों का उल्लेख)*
2. *वा0सं0 36.24*
3. *मं.ब्रा. 2.1.9-12*
4. *मं.ब्रा. 2.1.13*
5. *वही 2.1.14*
6. *वही 2.1.15, जै0गृ0सू025.3*
7. *जै0गृ0सू0 25.1*

अष्टकायें की जाती हैं।[1] अष्टमी तिथि में सम्पन्न किये जाने के कारण इन्हें अष्टका कहते हैं। कोत्स के मत में अष्टकायें चार है– लेकिन औद्गाहमणि गौतम, वार्कस्वामी आदि के मत में अष्टकायें तीन ही होती है अपूपाष्टका, मध्यमाष्टका और अन्वष्टका।

अपूपाष्टका :-

मालपूये के द्वारा सम्पन्न होने के कारण इसे अपूपाष्टका के नाम से अभिहित किया जाता है। पौष मास की कृष्णाष्टमी वैदिक रीति से मालपूवा तैयार करके आठ मालपूवों को आठ कपालों मे रखकर अग्नि पर चरू पका लेवें। पक जाने पर उन्हें अग्नि के उत्तर तरफ उतार कर पुनः उन पर घी डाल देवें। स्थालीपाक रीति से मालपूवा के भाग व चरूभाग को लेकर अष्टका के नाम से आहुति प्रदान करें। स्विष्टकृतादि आहुतियों को प्रदान कर इस कार्य को समाप्त करना चाहिए।

मध्यमाष्टका :-

(अष्टकाओं के) मध्य में अर्थात पौष कृष्णाष्टमी को तथा वर्ष के मध्य में (भाद्रपद कृष्णाष्टमी) मयमाष्टका की जाती है।[2] कुछ गृह्यसूत्र में माघ मास के कृष्णाष्टमी के इस अष्टका को करने का विधान है। इसे कुछ गृह्यसूत्रों में मांसाष्टका के नाम से भी जाना है। आचमैनादि प्रारम्भिक कार्यो को करके अग्नि के पूर्वभाग में यौ को खडा करें। ऊँ यत् पशनः'[3] मन्त्र से कार्यारम्भ सूचक प्रथम आहुति को प्रदान करे। यव मिश्रित जल, झुर आदि पात्रों को यथास्थान आसादित करें। अनामिका अंगुली से 'ऊँ अनुत्वा'[4] मन्त्र द्वारा गाय का स्पर्श करें। यव मिश्रित जल से गाय का प्रोक्षण करे। ऊँ परिवाजपतिः'[5] मन्त्र से गाय की प्रदक्षिणा करें। यव मिश्रित जल को पशु को पिलाकर बचे हुए भाग को फेक देवें। अग्नि के उत्तर पूर्व को शिर व उत्तर

1. *'ऊध्वमाग्रहायण्यास्तिस्रोऽष्टना अपरपक्षेषु' – शां.गृ.सू. 3.12.1*
2. *'मध्यमाणां मध्यवर्षे च' – शां0गृ0सू0 3.13.1*
3. *मं.ब्रा. 2.2.5*
4. *वही 2.2.6*
5. *वा0सं0 – 11.25*

दिशा में पशु का पैर करके आलम्भन करें। पितृकार्य के लिए दक्षिण शिर व पश्चिम को पैर कर आलम्भन करे। पशु के मर जाने पर 'ॐ यत् पशुः[1] मन्त्र से घृताहुति प्रदान करें। पशु को फाड़कर उसकी वसा निकालकर अग्नि पर पका लेना चाहिए। बिनारक्त गिरे पशुमांस को भी निकाल लेना चाहिए। वसा को पूर्वाद्ध व उत्तराद्ध अथवा पंञ्चप्रवरीय होने पर मध्यभाग से निकाल स्थालीपाक रीति से आहुति प्रदान करें।

इस अष्टका में यवा का होम करने के पश्चात् यज्ञीय पात्र व सामग्रियों को यथास्थान रखने के पश्चात् पशु के चौदह प्रधान अंगों को काटकर एक पात्र में रख लेवें। धान को कूटकर प्रक्षालित कर उसे भी एक पात्र में रख लेना चाहिए धोये हुए चावल को एक पात्र में रखकर अग्नि में पका लेवें। मांस चरू व ओदन चरू को अलग-अलग भेक्षण से चलाना चाहिए। पक जाने पर उसमें घी डालकर अग्नि के उत्तर भाग में उतार कर पुनः थोडा-थोडा घी डाल देना चाहिए। मांस की स्थाली से मांस लेकर कुशाओं पर रख लेना चाहिए। कुशास्तरित कांस्य स्थाली में मांस के सभी अंग अलगं-अलग रखना चाहिए। दूसरी स्थाली में मांस के बारह भाग अलग-अलग रखना चाहिए। तृतीय स्थाली में मांस के पूर्वाद्ध व उत्तराद्ध से थोड़ी-थोड़ी मांस निकाल कर रखें। इन पर थोड़ा-थोड़ा घी डाल देना चाहिए। विल्व मात्र ओदन चरू को कांस्य पात्र से लेकर पूर्वाद्ध व उत्तराद्ध क्रम से तीसरी स्थाली में रखना चाहिए। 'ॐ अग्नायाग्निः'[2] मन्त्र से चार घृत की आहुतियों को प्रदान कर ॐ औलूखला'[3] मंत्र से पहली थाली से तृतीयांश मांस भाग लेकर आहुति प्रदान करना चाहिए। इस आहुति में स्वाहाकार नहीं होता। पुनः तृतीयांश हवि को 'ॐ एषैव' एवम् 'ॐ एषैव'[4] मन्त्रों से दो आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिए। बची हुई हवि को 'ॐ या देवाः' 'ॐ संवत्सरस्य'[5]

---

1. मं.ब्रा. 2.2.8
2. वही 2.2.9
3. वही 2.2.10
4. वही 2.2.12-13
5. वही 2.2.14-15

मन्त्रों से आहुतियाँ प्रदान करें। अन्तिम स्थाली से सम्पूर्ण हवियों को निकालकर 'ऊँ v fJo *'[1] मन्त्र के साथ स्वाहाकार न करते हुए आहुति प्रदान करें। अवशिष्ट शेष कार्यो को पौर्णमास विधि से करते हुए इस कार्य का समापन करें। यदि वया के लिए गौ प्राप्त न होवे तो बकरे से स्थालीपाक करें। बकरे के अभाव में गौ को ग्रासमात्र खिलावें। यदि गौ ग्रास भी उपलब्ध न हो तो अरण्य में जाकर ऊपर दोनों हांथ उठाकर कहें कि 'एषा में ऊष्टका' तो भी कार्य सम्पूर्ण माना जाता है।

अन्वष्टका :-

मध्यमाष्टका के ही अन्तर्गत एक अष्टका का अतिरिक्त विधान किया जाता है जिसे अन्वष्टका के नाम से गृह्यसूत्रों के अन्तर्गत जाना जाता है। माघ मास की कृष्णाष्टमी के बाद नवमी या दशमी को इस अष्टका को करना चाहिए। दक्षिणपूर्व कोण में पश्चिम मुख वाली यज्ञशाला का निर्माण करना चाहिए। वेदि निर्माण करके उसे संस्कृत कर उसमें अरणिमन्थन से अग्नि पैदा करनी चाहिए। यज्ञीय सामाग्रियों के पश्चिम भाग में रखना चाहिए। मध्यमाष्टका के मांस के छोटे टुकड़ों मे काटकर एक पात्र में रख लेवें। ओदन चरू का पाक करें। मांसाभाव में तत्कालीन चावल से ही ओदन चरू पकावें। दोनों को पकाकर अग्नि के दक्षिण तरफ आसादित कर लेवें। तीन गर्तो को खोदकर पहले को संस्कृत कर उसमें अग्नि स्थापित करनी चाहिए। यजमान पत्नी चन्दन तैयाकर तीनों गर्तो के पास तीन ब्राह्मणों को बैठाये। यजमान कुशाओं पर बैठकर प्राचीनावीति होकर 'ऊँ ये यात्र'[2] मन्त्र से पिता, पितामह व प्रपितामह को तिलोदक प्रदान करे। 'ऊँ अग्नौ'[3] मन्त्र से आहुति प्रदान करने की आज्ञा प्राप्त करके दोनों चरूओं को एक में मिलाकर के 'स्वाहासोमाय पितृमते' व 'ऊँ स्वाहा अग्नये कव्यवाहनाय'[4] मन्त्रों से आहुतियों को प्रदान करे। इसी अष्टका में

1. मं.ब्रा. 2.2.16
2. द्रा० व खा०गृ०सू० 3.5.16
3. मा०श्रौ०सू० 11.9.1
4. मं.ब्रा. 2.3.1-2

पिण्डदान की भी प्रक्रिया होती है। कुशहस्त एवं प्राचीनावीति हुआ यजमान 'ॐ अपहता'[1] मन्त्र में गड्ढों में रेखाकरण करे। उनमें 'ॐ ये रूपाणि'[2] मन्त्र से उनमें अग्निस्थापित करें। गर्तो में पितरों का आवाहन करें। तीनों गड्ढ़ो के पास जलभरे तीन पात्र रखें। पूरब के गड्ढ़े में पिता के नाम के साथ जल प्रदान करे। इसी प्रकार अन्य दो गड्ढ़ों में पितामह व प्रपितामह के नाम का उच्चारण करते हुए जल प्रदान करे। इसी रीति से तीनों गड्ढ़ों में नामोच्चारण पूर्वक पिण्ड प्रदान करे। पिण्ड प्रदान करके 'ॐ अन्न पितरः'[3] मन्त्र से जप करें। 'ॐ असावेतत्'[4] मन्त्र के साथ थोड़े कुछ प्रथम गढ्ढ़े में पिता के पिण्ड के ऊपर रखे इसी प्रकार हस्तप्रक्षालित करके दूसरे एवं तीसरे गड्ढ़े में पितामह व प्रपितामह के पिण्ड के ऊपर कुशा रखे। इसी मन्त्र से तिल चन्दनादि पदार्थो को भी इसी क्रम में रखे। दाहिनें हाथ पर बायें हाथ को उल्टा करके रखकर 'ॐ नमो वः पितरः'[5] मन्त्र से नमस्कार करे। इसी क्रम से अन्य दो गड्ढ़ों पर नमस्कार करे। पिण्डों का अवलोकन करके 'ॐ असावेतत् ते वासो'[6] मन्त्र से तीनों पिण्डों पर वस्त्र प्रदान कर जल स्पर्श करे। पुनः पिण्डों पर जलाधार प्रदान करें। यदि पुत्र की कामना हो तो बीच के पिण्ड को 'ॐ आधत्त पितरः'[7] मन्त्र से खा लेवें एवम् ब्राह्मण को भोजन करावें। 'ॐ अभून्नो'[8] मन्त्र से अग्नियों पर जल छिड़क कर उन्हें शान्त करें। पात्रों को प्रक्षालित कर उन्हें यथास्थान रखकर ब्राह्मणों को भोजन दक्षिणादि प्रदान कर इस कार्य का समापन करें।

श्राद्ध :-

इसे पिण्ड पितृयज्ञ भी कहा जाता है। इसे अन्वष्टका के बाद आने वाली अमावस्या को किया जाता है। इस यज्ञ में स्थालीपाक अन्वष्टकास्थालीपाक के ही

1. मं.ब्रा. 2.3.3
2. वही 2.3.4
3. मं.ब्रा. 2.3.6
4. गो0गृ0सू0 4.3.13
5. जै0गृ0सू0 28.2
6. गो0गृ0सू0 4.3.24
7. मं.ब्रा. 2.3.16
8. वही 2.3.17

अनुसार किया जाता है। जिस दिन यह करणीय हो उस दिन दोपहर के समय आचमनादि प्रारम्भिक कार्यो को करके अग्नि को प्रज्जवलित करना चाहिए। शांखायन गृह्यसूत्र का कहना है श्राद्ध प्रत्येक मास में अमावस्या को करना चाहिए।[1] अग्नि के दक्षिण भाग में पके हुए चरू को उतार कर रख देना चाहिए। उसी तरफ शंकु से एक गड्ढ़ा खोदे। गढ़्ढ़े के दक्षिण तरफ अग्नि स्थापित करना चाहिए। श्राद्ध में गड्ढ़े के पश्चिम तरफ कुशास्तरण न होगा और न चन्दनादि कार्य होंगे। नमस्कारात्मक कार्य भी नहीं होगा। 'ऊँ स्वाहा सोमाय..........कव्यवाहनाय'[2] मन्त्रों से दो आहुतियों को प्रदान करना चाहिए। रेखाकरण, पिण्डदान व पिण्ड पर वस्त्र प्रदान करना चाहिए। अन्वष्टकानुसार शेष कार्यो को करते हुए दक्षिणापूर्वक इस कार्य का समापन करना चाहिए।

शाकाष्टका :-

गृह्यसूत्रों में मध्यमाष्टका के बाद शाकावष्टका को करने का विधान है लेकिन शांख्यान गृह्यसूत्र सर्वप्रथम शाकाष्टका को ही करने का विधान करता है।[3] इसके सभी कार्य अपूपष्टका के अनुसार किए जाते हैं। शाक चरू व ओदन चरू को अलग-अलग पकाकर 'ऊँ अष्टकायै स्वाहा'[4] मन्त्र से आहुति प्रदान करें।

विविध इच्छाओं की पूर्ति :-

सामान्यतया अधमर्ण उत्तमर्ण को ऋण चुकता करता है, परन्तु यदि ऐसी स्थिति हो जाय कि उत्तमर्ण समूलनष्ट हो जाय तो ऐसी स्थिति में अधमर्ण 'ऊँ यक्तुसीदम्'[5] मन्त्र से पलाशपत्र के माध्यम से ऋण की संख्यानुसार 'घृताहुति प्रदान करे ऐसी स्थिति में वह ऋण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

1. *'मासि मासि पितृभ्योदद्यात्' – शा0गृ0सू0 4.1.1*
2. *मं.ब्रा. 2.3.1-2*
3. *'तासां प्रथमायां शाकं जुहोति- 3.12.2*
4. *गो0गृ0सू0 4.4.18*
5. *मं.ब्रा. 2.3.30*

पशु कल्याणार्थ अग्नि स्थापित कर 'ऊँ सहस्रबाहुः'[1] मन्त्र द्वारा यव एवं धान की मिश्रित आहुति प्रदान करें। ऐसा करने से पशुओं की निरोगता भी बढ़ती है।

अचल सम्पत्तियों की प्राप्ति के लिए पहले 15 दिन तक उपवास करें इसके बाद पूर्णिमा की रात्रि में तालाब में नाभि तक जल में जाकर मुख में चावल लेकर निम्न मन्त्रों के साथ[2] लक्ष्य का स्मरण करते हुए मुख के चावल से जल में पाँच आहुतियाँ प्रदान करें।

खेतों में पहली बार हल की जुताई से पहले एक यज्ञ किया जाता है गृह्यसूत्रों में जिसे सीता यज्ञ के नाम से जाना जाता है। पुष्य नक्षत्र प्राप्त होने पर खेत के पूर्वार्द्ध में स्थालीपाक करके अग्नि स्थापित कर इन्द्र ,मरुत,पर्जन्य, अयाशन्य एवं भग देवताओं के लिए आहुतियाँ प्रदान करें। खलिहान में अन्न ले जाने से पहले खल यज्ञ,बीजवपन के पहले प्रवण,अन्न काटने के पहले प्रलवन,घर में अन्न ले जाने के पहले पर्यण नामक यज्ञ किये जाते हैं। चूहों से खेत की रक्षा के लिए क्षिप्रहोम विध्यनुसार मूषकराज के लिए आहुति प्रदान करनी चाहिए।

किसी ब्यक्ति को प्रसन्न करने या स्वयं के लक्ष्य की सिद्धि के लिए आम, कटहल, नारियल आदि के फलों ऊँ केतोपतम्[3] द्वारा जप करके प्रदान करना चाहिए। ये फल समसंख्या में प्रदान करना चाहिए।

ब्रह्मवर्चस्व की प्राप्ति के लिए'प्रपद' मन्त्रों के जप का विधान किया गया है। पुत्र व पशु की कामना हो तो उत्तराग्र आस्तरित कुशाओं पर बैठे और यदि ब्रह्मवर्चस्व व पशु कामी हो तो पूर्वाग्र और उत्तराग्र कुशाओं पर बैठ कर जाप करें।

तीन दिन उपवास करके पौर्णमासी को 'ऊँ वृक्ष इव'[4] मन्त्र द्वारा सूर्य का उपस्थान करें तो भौतिक वस्तुओं के भोग की स्थिति बनती है।

---

1. मं.ब्रा. 2.4.7
2. वही 2.4.9-13
3. वही 2.4.7
4. वही 2.4.9

किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बहिर्गमन करने वाला ब्यक्ति यदि 'ऊँ' कोश इव''[1] मन्त्र से सूर्य का उपस्थान करे तो उसका लक्ष्य सिद्धि होता है।

सूर्योदय के समय क्षिप्र होम विधि से ''ऊँ ऋत सत्ये''[2] मन्त्र से यव एवं चावल की आहुतियाँ प्रदान करने से विविध पशु वाहनों की प्राप्ति होती है।

निविघ्न घर वापसी के लिए 'ऊँ आकाशस्मैष'[3] मन्त्र से सूर्य का उपस्थान करना चाहिए।

पापरोग, कुष्ठ, राजयक्ष्मा, आदि व्याधियों से मुक्ति के लिए प्रातः'ऊँ भूर्भुवः स्वरोम्'[4] मन्त्र का जाप करें इससे सम्पूर्ण आयु निर्विघ्न व्यतीत होती है। 'ऊँ मूधोऽधि'[5] आदि पाँच मन्त्र से घृताहुतियाँ प्रदान करने से शरीर के नाना अंगो की पीड़ाएँ में नष्ट हो जाती हैं। मन्त्र ब्राह्मण 2.5.1-6 मन्त्र ब्राह्मण 1-5-8, सामसंहिता उत्तरार्चिक 1.1.12(3 मन्त्र) तीन व्याहृतियाँ,मन्त्र ब्रह्मण 2.5.7-8 इन 15 मन्त्रों से कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा तिथि में घृताहुति प्रदान करने से दरिद्रता दूर हो जाती है।

पाँच मन्त्रों[6] से तीन कालों में आहुतियाँ प्रदान करने से व्यक्ति को यश की प्राप्ति होती है।

सम्पूर्ण शुक्ल पक्ष में उपवास करके कुष्पक्ष की प्रतिपदा तिथि को ब्राह्मणों को भात बनाकर खिलायें एवम् शाम होने पर गाँव के पश्चिमी चौराहे पर क्षिप्र होम विधि से 'ऊँ भल्लास स्वाहा'[7] आदि दो मन्त्रों से चावल के टुकड़ों की आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिए–ऐसा करने से ब्यक्ति को बहुत अधिक धन की प्राप्ति होती है।

1. *मं.ब्रा. 2.4.12*
2. *मं.ब्रा. 2.4.10*
3. *मं.ब्रा. 2.4.13*
4. *वही 2.6.6*
5. *वही 2.5.1-5*
6. *वही 2.5.9-13*
7. *वही 2.5.9-18*

'ऊँ वशङ्गमौ' तथा ऊँ शंखश्च'[1] इन दोनों मन्त्रों से क्रमशः धान एवम यव की आहुतियों को प्रदान करें । मन्त्र से प्रयुक्त'असौ' पद के स्थान पर प्रसन्नता के लक्षित व्यक्ति का नामोच्चारण होना चाहिए। ऐसा करने से लक्षित व्यक्ति वशवर्ती हो जाता है।

पन्द्रह दिन तक उपवास करके शत्रु के आकार की खदिर की लकड़ी को पौर्णमासी की रात्रि में 'ऊँ आहुति' देवीम्'[2] मन्त्र से आहुति प्रदान करनेसे दीर्घायु की प्राप्त होती है। खादिर की लकडी के स्थान पर लोहे के किलों का प्रयोग करने से इच्छित व्यक्ति का बध हो जाता है। बध कार्य में उपवास नहीं किया जाता। इसी मन्त्र द्वारा पूर्णिमा की रात में चौराहे पर जाकर वेदि निर्मित कर अग्नि स्थापित कर आहुति प्रदान करने से ग्राम की प्राप्ति होती है। यह आहुति मुख में घृत लेकर प्रदान की जाती है।

अपनी वृत्ति सर्वदा सुरक्षित रखने के लिए तीन दिन का उपवास करके प्रत्येक दिन सायं व प्रातःकाल में मुख में गीला गोबर लेकर 'ऊँ आकूती देवीम्'[3] मन्त्र से अहुति प्रदान करें।

'ऊँ इदमहम्[4] मन्त्र से धागों की आहुति प्रदान करने से वस्त्रों की प्राप्ति होती है एवम् इसी मन्त्र से गायों के रोवों की आहुति प्रदान करने से गायों की प्राप्ति होती है।

'ऊँ अन्नं' वा एवम्'ऊँ श्रीर्वा[5] मन्त्रों से गाँव के पूर्व या उत्तरी चौराहे पर जाकर अग्नि के पीरमूहित एवं घृत को संस्कृत कर दो आहुतियों को प्रदान करें इससे स्वधिष्टम की प्राप्ति होती है इसके बाद 'ऊँ अन्नस्य'[6] मन्त्र से गृह्याग्नि में भी

1. मं.ब्रा. 2.6.7-8
2. वही 2.6.9
3. वही 2.6.9
4. वही 2.6.10
5. वही 2.6.13-14
6. वही 2.6.15

आहुति प्रदान करें। इसी मन्त्र से गोशाला में आहुति प्रदान करने से पशुओं की प्राप्ति होती है। इसी मन्त्र से गोशाला में लोहे के चूर्ण की आहुति प्रदान करने से पशुओं के सम्पूर्ण कष्ट दूर हो जाते हैं। मन्त्र ब्राह्मण 2-6.13,2.6.14, एवं 2.6. 15 से मन्त्रों से मार्ग भयातुर व्यक्ति वस्त्र में गाँठ देकर पुनः खोलें इससे भय दूर हो जाता है।

यदि किसी ब्यक्ति को साँप ने काट लिया है तो डसे हुए व्यक्ति को स्नान कराकर'ऊँ मा भैषीः'[1] मन्त्र का जाप करने से विष दूर हो जाता है।

'ऊँ तुरगोपाप'[2] मन्त्र का पाठ करते हुए बाँस के दण्ड को सोते समय अपने पास रखने से स्नातक की रक्षा होती है।

यदि घाव से युक्त स्थान में कीड़े पड़ गये हों तो कीड़ों को नष्ट करने के लिए उस स्थान को धोकर चार मन्त्रों[3] का जाप करना चाहिए। इन्ही मन्त्रों से पशुओं की क्रिमिचिकित्सा की जाती है। इसका विधान है कि जुते हुये खेत की मिट्टी जो अपरान्ह काल नें किसी ऊचे स्थान पर रखी गई हो को लेकर पूर्वान्हकाल में कीड़ों से युक्त स्थान में छिडकें और उपर्युक्त मन्त्रों का जाप करें।

अतिथि पूजन :-

आचार्य, राजा, ऋत्विक, स्नातक, स्वर्ग विवाह के लिए आये हुए वर का आतिथ्य किया जाता है। इसे श्री अर्हणकृत्य के नाम से भी जाना जाता है।

पूजा करने वाला पूजा योग्य सामाग्रियों को लेकर पूज्य के समीप जाकर उस स्थान के उत्तर भाग में 'गौ को बाधकर पूज्य के पास खड़ा होवें ऊँ इदमहम्[4] मन्त्र का जप करें।

---

1. मं.ब्रा. 2.6.18
2. वही 2.6.19
3. वही 2.7.1-4
4. वही 2.8.2

पूजक पूज्य की विण्टर, पाथ, अर्ध्य, आचमनी, मधुपर्क को प्रदान करता हुआ पूजा करें। पूज्य 'ऊँ या ओषधीः[1] मन्त्र से विण्टर को ग्रहण करें। 'ऊँ यतो देवीः'[2] मन्त्र से पाद्य जल को, देखते हुए 'ऊँ सव्य'[3] मन्त्र से पहले बायें पैर को फिर दाहिने पैर को धोयें। पैर धोने का कार्य पूजा करने वाला करता है। ऊँ पूर्वमन्त्रम्[4] मन्त्र से दोनों पैरों को एक साथ धोवें। इस प्रकार अन्य क्रियाओं को समन्त्रक करना चाहिए। आचमन कर वस्त्र धारण कर लेने के बाद नाई 'ऊँ गौर्णोगौः'[5] मन्त्र का उच्चारण करें 'ऊँ मुञ्चगाम्'[6] मन्त्र का उच्चारण करता हुआ पूजा करने वाला व्यक्ति गाय से छोड़ने की आज्ञा देवें।'ऊ माता रुद्राष्णम्'[7] मन्त्र का उच्चारण करते हुए गाय का अवलोकन करें।

गृहकर्म :-

गृह निर्माण प्रत्येक गृहस्थ का आवश्यक कार्य है। गृह में ही परिवार सुव्यवस्थित रूप में रह सकता है। गृह निर्माण के लिए शुभ समय अच्छी भूमि सुन्दर रूप से बनाये गये घर विचारणीय विषय है। गृह निर्माण के लिए भूमि समतल,घास युक्त, अबाधित मार्ग वाली होवें। ब्राह्मण के लिए सफेद भूमि,क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए लोहित एवं काली,भूमि उत्तम मानी जाती है। ऊसर एवं हमेशा जलमग्न भूमि का कभी भी चयन नहीं करना चाहिए। पास सरोवरादि का होना उत्तम माना जाता है।

घर का पूरब मुख करने पर यश एवं बल, उत्तर मुख करने पर पुत्र व पशु,दक्षिण मुख करने पर कामनाओं की पूर्ति की प्राप्ति होती है। घर के पूर्व भाग में यदि पीपल हो तो वह अग्नि भय प्रदान करने वाला होता है। पीपल का देवता सूर्य है। दक्षिण में पाकड़ वृक्ष तो अल्पायु होता है। पाकड़ का देवता यमराज है।

1. मं.ब्रा. 2.8.3
2. वही 2.8.5
3. वही 2.8.8
4. वही 2.8.9
5. गो0गृ0सू0 4.10.18
6. मं.ब्रा. 2.8.13
7. वही 2.8.15

पश्चिम दिशा में वट वृक्ष होने पर शस्त्र प्रहार का भय होता है। वट वृक्ष का देवता वरुण हैं। उत्तर-दिशा में गूलर का वृक्ष नहीं होना चाहिए क्योकि इससे अक्षिरोग की सम्भवना होती है। गूलर का देवता प्रजापति है। यदि इस वृक्ष की ऐसी स्थितियाँ हों तो तत् तत् देवताओं की पूजा करके वृक्षों को काट देना चाहिए। यदि घर का निर्माण करना हो तो उदुम्बर की शाखा से तीन पंक्ति खीचते हुए मन्त्र[1] का उच्चारण करें। 'ऊँ कोऽसि कस्यासि'[2] मन्त्र से गृहयोग्य भूमि पर हवन करें। स्थूण के गड्ढों को खोंदें। उसमें जल मिश्रित सत्तुओं को डाललते हुए-ऊँ इमाम्'[3] मन्त्र का उच्चारण करें। घृत सिचिंत उदुम्बर की शाखा को पूर्व दिशा के गर्त में 'ऊँ इमामुच्छ्रपामि'[4] मन्त्र से गाड़े। इसी प्रकर दक्षिण पश्चिम तथा उत्तर की दोनो गर्तो में शाखा को स्थापित करें। मुख्य स्तम्भ को 'ऊँ इमामहमस्य'[5] मन्त्र से स्थापित करें। इसके बाद गृह निर्माण करें।

घर को निर्मित हो जाने पर उसके बीच में वैदिक निर्मित करके उसमें अग्नि स्थापित कर अग्नि का परिसमूहनादि करके काली गौ अथवा सम्भेद बकरे से यज्ञ करें। अथवा खीर या चरु से यज्ञ करें।

प्रथमाष्टका के अनुसार कार्य करके चरु की आहुति वस्त्रोपति के नाम से देनी चाहिए। घृत एवम् पायस के चरु को मिश्रित कर पूर्वार्द्ध, उत्तरार्द्ध एवं मध्यभाग से एक बार या पंच प्रवर बाले हों तो दो दो बार स्त्रुचि में लेकर पुनः घृत छोड़कर वास्तोपति के नाम से आहुति प्रदान करना चाहिये। चौदह अवदानो को घृत से सिंचित करके कांसे की थाली में रखकर पुनः घुत से सिचिंत कर देना चाहिए। पुनः सम्पूर्ण को छः अवदावों में विभक्त करके घृत से सिचिंत करके ऊँ वासोष्यर्त'[6] मन्त्र से पहली आहुति प्रदान करना चाहिए। पुनः तीन मन्त्रों[7] से तीन आहुतियों को प्रदान

1. शां०गृ०सू० 3.2.1
2. वही 3.2.2
3. वही 3.2.5
4. वही 3.2.6
5. वही 3.2.8
6. मं.ब्रा. 2.6.1
7. सा०सं०सू० 1.1.12

करें। पुनः प्रजापति के नाम से एक आहुति प्रदान करें। स्थालीपाकानुसार अवशिष्ट आहुतियों को प्रदान करते हुये वैश्वदेव बलि कर्मानुसार पूर्वदिशा में अग्नि के लिए अग्निकोण में वायु, दक्षिण में यम, नैऋत्य् में पितरों, पश्चिम में वरुण, वायब्य में महाराज, उत्तर में सोम, ईशान में महेन्द्र, नीचे वासुकि एवम् पुनः उत्तर में ब्रह्मण के लिए दश बालियाँ प्रदान करना चाहिए। ब्राह्मणों को दक्षिणा व भोजन कराकर इस कृत्य को पूर्ण करना चाहिए।

संस्कारात्मक वर्ण्य-विषय

संस्कार :-

संस्कार, शरीर एवम् आत्मा के शोधन एवं नूतन गुणों के लिए किये जाते हैं। संस्कार से तात्पर्य यहाँ हिन्दू संस्कारों से है। अंग्रेजी के 'सिरीमॅनी' और लैटिन के 'सिरामोनिया' शब्दों में संस्कार शब्द का अर्थ व्यक्त करने की क्षमता नहीं है।

संस्कार का अभिप्राय निरी बाह्य धार्मिक क्रियाओं, अनुशासित अनुष्ठान व्यर्थ आडम्बर कौरा कर्मकाण्ड, राज्य द्वारा निर्दिष्ट चलनों, औपचारिकर्ताओं, तथा अनुशासित व्यवहार से नहीं है, जैसा कि साधारणतः समझा जाता है और उसका अभिप्राय उन विधि–विधानों तथा कर्मकाण्डों से ही है। जिससे हम विधि का स्वरूप धार्मिक कृत्य अथवा सामान्य क्रिया अथवा किसी चर्च के विशिष्ट चलनों के अर्थ लेते हैं। संस्कार शब्द का अधिक उपयुक्त पर्याय अंग्रेजी का सेक्रामेण्ट शब्द है, जिसका अर्थ है, धार्मिक विधि, विधान अथवा कृत्य जो आन्तरिक तथा आत्मिक सौन्दर्य का बाह्य तथा दृश्य प्रतीक माना जाता है और जिसका व्यवहार प्राच्य, प्राक्सुधार कालीन पाश्चात्य तथा रोमन कैथालिक चर्च बपतिस्मा, सम्पुष्टि (कन्फर्मेशन) यूखारिस्त, व्रत (पीनान्स) अभ्यंजन (एक्स्ट्रीम अंक्शन) आदेश तथा विवाह के सात कृत्यों के लिए करते थे।[1]

संस्कार शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक कृञ् करणे धातु से घञ् प्रत्यय करने पर सिद्ध

1. हि०सं०- डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ०18

होता है। संस्कार शब्द का अर्थ दोषों को दूर कर नया रूप प्रदान करना है। इसलिए बोल-चाल की भाषा में इसका अर्थ नया रूप देना है।[1] आयुर्वेदीय ग्रन्थों में गुणों का प्रतिस्थापन ही संस्कार है- 'संस्कारों हि गुणान्तरधानमुच्यते।'[2] चरक संहिता संस्कार के पर्याय रूप में करण शब्द का प्रयोग करती है -'करणं हि नाम स्वाभानिकानां द्रव्याणामाभिसंस्कारः।''[3] अद्वैत वेदान्ती जीव पर शारीरिक हि नाम क्रियाओं के मिथ्या आरोप को संस्कार मानते है' -स्नानाचमनादिजन्याः संस्कारा देहे उत्पद्यमानानि तदभिधानानि जीवे कल्प्यन्ते।[4] मीमांसक यज्ञाङ्गभुत पुरोडासादि की विधि ावत् शुद्धि से संस्कार का अर्थ मानते हैं[5] नैयायिक भावभिव्यक्ति में सक्षम आत्म शक्ति को ही संस्कार मानते हैं।[6] रघुवंश में प्रशिक्षण को संस्कार कहा गया है।[7] व्याकारणिक शुद्धि सौजन्य का भव व परिपूर्णता का कुमार सम्भव में संस्कार कहा गया है।[8] प्रयुक्तसंस्कारइवाधिकं वभौ में परिष्कार को संस्कार कहा गया है।[9] शोभा या शोभवर्धक आभूषण को भी संस्कार कहा गया है।[10] प्रभाव अथवा स्वभाव को भी हितोपदेश में संस्कार कहा गया है।[11] दर्शनग्रन्थों में स्मरण शक्ति को भी संस्कार कहा गया है। संस्कार मात्र जन्यं ज्ञानं स्मृतिः।[12] मनुस्मृति में धार्मिक विधिविधान को संस्कार कहा गया है। कार्य का परिणाम भावना विचारादि को भी संस्कार कहा गया है। 'फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्कारः प्राक्तना इव।[13]

1. सं.वि०वि०-अत्रिदेव गुप्त- पृ० 7
2. च०सं०शा०स्था०, अ० 1
3. वि०स्था०अ०-1
4. हि०सं०- डॉ० राजबली पाण्डेय पृ० 18
5. वही पृ० 18
6. वही पृ० 18
7. 'निसर्गसंस्कारविकीत........युवराजशकभाक्' 3.15
8. 'संस्कारवत्येव.........विभूषितस्य' 1.28
9. रघुवंशम् 3.18
10. अभिज्ञान शाकुन्तलम् 7.33
11. 'यन्नेव भाजने लग्नः संस्कारोनान्यथा भवेत्- हितोपदेश 1.8.
12. तर्कसंग्रहः पृ० 60
13. 2.26

संस्कारों में वैदिक मन्त्रों का विनियोग होता है, अतः स्पष्ट है कि संस्कार बीज रूप में वैदिक संहिताओं के ही काल से हैं। लेकिन संहिताओं में संस्कार शब्द प्रयुक्त नहीं हैं। शतपथब्राह्मण[1] में संस्कारों के अंगो का प्रयोग हुआ है किन्तु संस्कारों का विधिविधान वर्णित नहीं है। डॉ0 राजकिशोर सिंह व डॉ0 ऊषा यादव इस विषय में कहते है कि हिन्दू संस्कारों का वर्णन वेदों के कुछ सूक्तों में कतिपय ब्राह्मण ग्रन्थों में गृह्य व धर्मसूत्रों में तथा स्मृतियों में उपलब्ध होते हैं वैदिक साहित्य में कहीं भी संस्कार शब्द का प्रयोग नहीं मिलता किन्तु विभिन्न स्थलों पर उपनयन अन्त्येष्टि आदि कतिपय होते हैं। वैदिक साहित्य में कही भी संस्कार शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है, किन्तु विभिन्न स्थलों पर उपनयन अन्त्येष्टि आदि कतिपय संस्कारों के अंगों का वर्णन अवश्य प्राप्त होता है।[2]

संस्कारों की संख्या :-

संस्कारों की संख्या के विषय में गृह्यसूत्रों में पर्याप्त मतभेद दिखलाई देता है। कतिपय विद्वान इनकी संख्या 44 मानते है।[3] गौतम ने चालीस संस्कारों को माना है।[4]

आश्वलायन गृह्यसूत्र में ग्यारह, पारस्कर में तेरह, बौधायन में तेरह वाराह में तेरह, वैखानस में अट्ठारह इस प्रकार विविध गृह्यसूत्रों में संख्या विविध बतलाई गई है। विविध संस्कारों को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है -

विवाह :-[५]

वैदिक परम्परानुसार विवाह एक महत्वपूर्ण बन्धन है। जिससे दो प्राणी मिलकर एक हो जाते हैं।[6] महर्षि दयानन्द पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत विद्याबल को प्राप्त तथा सब प्रकार

1. श.ब्रा. 11-14
2. प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति : (प्रारम्भ से गुप्तयुग पर्यन्त) पृ0 268-269
3. नारदपरिब्राजकोपनिषद् - 1.1   4. गौतम 8.14.24
5. शौ0गृ0सू015, पा.गृ.सू. 1.4.8 आप.गृ.सू. 2.12, आ.गृ.सू. 1.5 , बौ.गृ.सू. 1.1 भा.गृ.सू. 1.7.12 पा0गृ0सू0 1.20
6. 'संभावो हृदयानि नौ. ऋ.वे. 10-85.47

के शुभ, गुण कर्म स्वभावों में तुल्य परस्पर प्रीतियुक्त होके सन्तानोंत्पत्ति तथा अपने वर्णाश्रम में अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिए स्त्रीपुरुष के सम्बन्ध को विवाह बतलाते है।[1]

कन्या और वर अपनी प्रसन्नता से स्वयं परीक्षा करके विवाह करें। विवाह के पश्चात ये दोनों भेद या व्यभिचार कभी न करें। परन्तु अपनी स्त्री के नियम में पुरुष और पतिव्रता स्त्री होकर मिलकर चलें। इसलिए विवाह संस्कार में एकव्रत तथा समान चित्त होने की दोनों प्रतिज्ञा करते हैं 'मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु'[2] विवाह स्वमं एक यज्ञ माना जाता था। व्यक्ति विवाह कर गार्हस्थ जीवन में प्रवेश नहीं करता था उसे अयज्ञीय तथा यज्ञहीन समझा जाता था।[3]

ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यपूर्वक अंगों सहित अर्थ के साथ वेदों का अध्ययन कर गुरु की आज्ञा प्राप्त करके समावर्तन संस्कार पूर्वक विवाह करे।[4]

कन्या लक्षण परीक्षा :-

गृह्यसूत्रों ने विवाह योग्य कन्या के लक्षण की परीक्षा दो प्रकार से किये जाने का निर्देशन किया है- ज्योतिषियों के द्वारा एवम् विभिन्न स्थानों से लाई गई मिट्टी की गोलियों द्वारा। ज्योतिषी कन्या के जन्म दिन व समय के आधार पर उसकी योग्यता का निर्धारण करते हैं। गृह्यसूत्रों में कन्या के कुछ शारीरिक लक्षण बतलाए गए हैं- कन्या के अंग पूर्ण व सुन्दर हों। उसके रोवें व बाल कम हों। स्वर मधुर हो। मेधवर्णा हो। मधुपिंगल नेत्रवाली हो। न अधिक मोटी और न अधिक कृश हो। लम्बाई सामान्य हो। अधिक उम्रवाली न हो कलहप्रिय न हो जिसकी भौहें अधिक न हों। जिसका स्वभाव सुन्दर हो। कमलवत् नेत्र हों। सुन्दर दाँतो वाली हो। कटि कृश हो।

1. द्र.सं.वि. पृ0 141
2. पा.गृ.सू. 1.8.8.
3. तै.ब्रा. 2.2.2.6
4. ब्रह्मचारी वेदमधीत्योपन्याहृत्य मुखेऽनुज्ञातोदादान्कुर्वति - 51 व खा0गृ0सू0' 1.3.1

अच्छे कुल में उत्पन्न व धन की दृष्टि से समान स्वर वाली हो। पीले वर्ण वाली रोहिणी, लोकविहीन, अधिक लोगों वाली, अधिक अङ्कों वाली एवं वाचाल कन्या से कभी भी विवाह न करे।

आठ स्थानों[1] से लाई गई मिट्टी से आठ गोलियाँ बनाकर एवं सभी मिट्टियों को मिलाकर एक नवीं गोली बनाकर ऊँ ऋतमेव प्रथमम्'[2] मन्त्र कन्या से एक गोली उठवालें। यदि यज्ञवेदी हल से जुती हुई, जलाशय गोशाला या सबकी मिश्रित गोली उठाती है तों विवाह के योग्य हैं अथवा नहीं।

गृह्यसूत्रों से सप्रवर या संगोत्र कन्या से विवाह का निषेध है। यदि ऐसा हो जाय तो उस कन्या के त्याग तथा चान्द्रायण व्रत के करने का विधान है।[3] जिस दिन विवाह निश्चित हो उस दिन ब्रह्मचारी अपने को प्रातःकाल एक कमरे में बन्द रखना पड़ता है। भरद्वाज गृह्यसूत्र के अनुसार ऐसा इसलिए किया जाता है कि जिससे सूर्य स्नातक के उच्चतर तेज से अपमानित न हो। क्योंकि वह स्नातक के तेज से ही प्रकाशित होता है।[4]

विवाह के एक दिन पहले कन्या वर के पिता या बड़े स्वर्णदान या अन्नदान द्वारा आभ्युदयिक श्राद्ध स्वस्तिवाचन आदि कार्यो को सम्पन्न करें। विवाह के दिन माष (उड़द) को सुरा अथवा जल में पीसकर कन्या के सम्पूर्ण शरीर पर लेपन करें व मन्त्रों का उच्चारण करें।[5] इन्हीं मन्त्रों से शरीरस्थ अधः अंगों को भी अभिषिक्त करें। गृह्यसूत्रों में इस कार्य का जातिकर्म कहा जाता है। स्नान की हुई कन्या ऊँ या अकृन्तन्[6] मन्त्र से अधोवस्त्र को एवम् ऊँ परिधना[7] मन्त्र से ऊर्ध्व वस्त्र को धारण

1. हल से जुती यज्ञवेदी, गोशाला, जलाशय, द्युतक्रीड़ा, चौराहा, श्मसान, एवं ऊसर।
2. आय0श्रौ0सू0 8.4.2, तै0ब्रा0 1.5.5
3. पा0गृ0सू0 1.4-8 पर गदाधर द्वारा उद्धृत।
4. वही 2.1.8
5. गो0गृ0सू0 2.1.9. (ऊँ कामवेद से ऊँ अग्निम् तक)
6. मं.ब्रा. 1.1.5
7. वही 1.1.6

करे। पाणिग्रहणकर्म के प्रारम्भ होने पर गृह्याग्नि में अग्निशाला में वेदी के मध्य में रखकर परिसमूहित कर स्थापित करना चाहिए। कन्या को लेकर कन्या पिता वेदी के पास आसीन होवें। संकल्पादि प्रारम्भिक क्रियाओं को करके विष्टरादि से वर की पूजा करें। कन्यापिता अपनी तीन पीढ़ी के पूर्वजों का स्मरण करता हुआ संकल्प के साथ जल कुश एवं स्वर्ण लेकर वर के दाहिने हाथ में रख देवें। ऊँ देवस्यकत्वा[1] मन्त्रपूर्वक वर कन्यादान स्वीकार करें। हवनीय सामग्रियों पूर्णपात्रादि को रेखाकरण करके स्थापित करें। वर पक्ष का कोई व्यक्ति एक कलश जल शिर पर लेकर अग्नि की प्रदक्षिणा करके वर के दाहिने तरफ आसन पर पूरब मुख करके बैठे। वधू अपने दाहिने हाथ से वर के दाहिने हाथ का स्पर्श करै वर तीन व्याहतियोंसे तीन आहुतियाँ प्रदान करे। तीनों व्याहृतियों के साथ एक चौथी आहुति प्रदान करे। 'ऊँ अग्निहेतु[2] आदि छः मन्त्रों से वधू के दाहिने हाथ को अपने दाहिने कन्धे पर रखकर वर घृताहुतियाँ प्रदान करे। ऊँ इममश्मानम्'[3] मन्त्र को पढ़ता हुआ वर अश्वारोहण करे। वर लाजाहुति प्रदान करे। एक लाजाहुति पर दो बार घृताहुति प्रदान करें। ऊँ इयम्[4] मन्त्र से वराञ्जलि सहित वधू लाजाहुति प्रदान करे। अञ्जलि स्पर्शित किए हुए वर वधू अग्नि की प्रदक्षिणा करें। ऊँ कन्यतमा'[5] मन्त्र से अग्नि के पश्चिम भाग में वर-वधू बैठ जाँये। वधू अपने पैर को लोष्ठ पर रखकर लाजा को 'ऊँ अर्यमणम्'[6] मन्त्र से आहुत करे। पूर्वोक्त 'ऊँ कन्यतमा' मन्त्र को पढ़ते हुए प्रदक्षिणा करके अग्नि के पश्चिम भाग में पूरब मुख करके बैठ जाये। भ्राता उपस्तीर्णभिघारित विधि से लाजाहुति प्रदान करे। पुनः वर वधू अग्नि की प्रदक्षिणा करें वर वधू के पूरब मुख खड़ा होने पर भ्राता सभी लाजा को एक बार में आहुति प्रदान कर देवें। 'ऊँ एकमिषे'[7] आदि सात मन्त्रों से वधू को

1. जै०गृ०सू० 1.7
2. मं.ब्रा. 1.1.10-15
3. वही 1.2.1
4. वही 1.2.2
5. जै०गृ०सू०20.19
6. वही 22.2
7. मं.ब्रा. 1.2.6-12

सातपग चलने को कहे। 'ऊँ समञ्जन्तु'[1] मन्त्र पूर्वक वर वधू शिरस्थ कलश से जल निकाल कर प्रेक्षपण करे। इस क्रिया को 'अभिषेक' कहते है। सातवें पग चलने पर वधू वर की कलाई को अपने बॉए हाथ से गृहीत कर अंगूठे के साथ अपने दाहिने हाथ को उत्तान पकड़कर 'ऊँ गृभ्णामि'[2] आदि दे छः पाणिग्राय मन्त्रों का उच्चारण करे।

विवाहोत्तर कार्य :-

विवाह के समय जिस अग्नि में आहुति प्रदान की गई हो उसे किसी बर्तन या समिधा में स्थापित कर ईशान कोण में स्थापित करे। वर-वधू वहाँ जायें। अग्नि को स्थापित एवं परिसमूहित कर व्याहृतियों से आहुति प्रदान करें। विवाहाग्नि के साथ वर वधू अपने घर में प्रवेश करें। अग्नि के पश्चिम भाग में वर-वधू वृषभचर्म पर मौन होकर आसीन होवें। रात्रि में नक्षत्रोदय होने पर 'ऊँ लेखासन्धिषु[3] मन्त्रों से छः आहुतियों को प्रदान करे। 'ऊँ ध्रुवमसि'[4] मन्त्र से वर की आज्ञानुसार वधू ध्रुवदर्शन करें। वर के ही आदेश से वधू ऊँ अरून्धत्यसि' मन्त्र का उच्चारण करते हुए अरून्धति तारे का दर्शन करे। ऊँ ध्रुवासौ[5] मन्त्र से वर वधू का आमन्त्रण करे। वधू पतिगोत्र के साथ स्वयं को सम्बन्धित करती हुई अभिवादन करे एवं वर आशीर्वाद प्रदान करे। ब्राह्मण को दक्षिणा देकर इस कार्य को पूर्ण करे।

आचार-विचार :-

वर वधू तीन दिन तक क्षर व लवणरहित भोजन करें। विवाहित दम्पत्ति को तीन दिन तक लवण क्षार युक्त भोजन नहीं करना चाहिए। भूमि पर शयन करना चाहिए। एक वर्ष, बारह, छः या न्यूनतम तीन रात्रि पर्यन्त मैथुन नहीं करना चाहिए।[6] 2 वैवाहिक विधिविधानों के पश्चात् त्रिरात्रव्रत करना चाहिए।[7]

1. मं.ब्रा. 1.2.15
2. वही 1.2.16-21
3. वही 1.3.1-6
4. जै0गृ0सू0 22.12, गो0गृ0सू0 2.3.9
5. मं.ब्रा. 1.3.7
6. पा0गृ0सू0 1.8.21
7. वही 1.8.21

पतिगृहगमन :-

विवाहोपरान्त पतिगृहगमननार्थ वाहन पर चढ़ते हुए ऊँ स मिसुकम्[1] मन्त्र का जप करे। मार्ग में भयानक पशु चौराहा, श्मशानादि के पड़ने पर 'ऊँ मा विद्म'[2] मन्त्र का उच्चारण करे। घर पहँचने पर पतियुक्ता साध्वी ब्राह्मणी वधू को वाहन से उतार कर ' ऊँ रहगान'[3] मन्त्र का उच्चारण करती हुइ उचित स्थान पर बैठावे वधू की गोद में उस बालक को बैठावे जिसका मुण्डन न हुआ हो। बालक की गोद में कुछ फल रख देना चाहिए। इसके बाद वर वधू धृतिहोम करें।

चतुर्थीकर्म :-

गृह्यसूत्र विवाह से चतुर्थ रात्रि में चतुर्थीकर्म का विधान करते हैं पति प्रातःकाल में गृहयाग्नि को संस्कृत का उसके दक्षिण भाग में अपना आसन रखे। उत्तर में ब्रह्माके लिए एक जल पात्र रखे। यद्यपि स्थालीपाक करे। तीन महा आहुतियों से तीन आहुतियाँ प्रदान करे। अन्य मन्त्रो[4] से अन्य आहुतिया प्रदान करे। पुनः अरादि व्याहतियों से घृताहित प्रदान करे। प्रत्येक आहुति को प्रदान करने के पश्चात् बचे हुए घृतविन्दुओं को जल में छोड़ते जाना चाहिए। इसी घृतमिश्रित जल को वधू के साव्रंग में लेप करें। पुनः जल से स्नान करा देवें। इस होम में पूर्णाहुति प्रदान नहीं करना।

गर्भाधान :-

इसे पुत्रेष्टि या निषेक भी कहते हैं। गर्भस्याधानं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं यस्मिन् येत्वा वा कर्मण्य तद् गर्भाधानम् गर्भाधान विषयक सर्वप्रथम व्यवस्थित विवरण गृह्यसूत्रों में ही उपलब्ध होते हैं। गृह्यसूत्रों के अनुसार विवाह के पश्चात ऋतुस्नान से शुद्ध पत्नी के समीप पति को प्रतिमास जाना चाहिए।[5] इस संस्कार के पूर्व भी एक अनुष्ठान किया जाता है।[6]

1. मं.ब्रा. 1.3.11 2. वही 1.3.12 3. वही 1.3.13 , जै0गृ0सू0 22.21
4. संस्कार विधि – गर्भाधान पृ0 40
5. यदर्तुमतीभवत्यु ....तदासम्भवकालः। गौ0गृ0सू0 2.5.8
6. बौ0गृ0सू0 1.7.1–8

जिस दिन इस संस्कार को करना हो उस दिन प्रातःकालीन क्रियाओं को पूर्णकरके संकल्प व स्वस्तिवाचनादि कार्य करें। इस संस्कार के मरूत नामक अग्नि की स्थापना की जाती है। आज्य को संस्कृत कर व्याहतियों से तीन घृताहुतियाँ प्रदान करें। इसमें भी पूर्णाहुति नहीं प्रदान की जाती। सायंकालीन कार्यो को पूर्ण करके रात्रि में पति 'ऊँ विष्णुः'[1] एवं 'ऊँ गर्भधेहि'[2] इन दो मन्त्रों का उच्चारण करके उपस्थ का स्पर्श कर गर्भाधान क्रिया करें।

गर्भाधान का काल :-

इस विषय में सभी गृह्यसूत्र लगभग एकमत है। जब पत्नी गर्भधारण के लिए शारीरिक रूप से समर्थ हो अथवा ऋतुकाल हो इसका काल है। इस विषय में गोमिल गृह्यसूत्र का कहना है कि जिस स्त्री के नाभिमण्डल के चारो ओर यौवनसूचक रोम पंक्ति न हो उसके साथ गर्भाधान न करे।[3] पत्नी के ऋतुस्नान के चौथी रात्रि से सोलहवीं रात्रि तक का समय ज्यादा उपयुक्त माना जाता है। पुत्रेच्छु युग्म रात्रियों में और पुत्री की इच्छा वाले आयुग्म रात्रियों में गर्भाधान करे।[4] गर्भाधान केवल रात्रि में ही करें।[5] दिन के सम्भोग में प्राणवायु तीव्र चलती है रात्रि में सम्भोग करने वाला ब्रह्मचारी माना जाता है।[6] चौथी रात्रि का पुत्र अल्पायु और धनहीन होता है। पंचम रात्रि में धारण की हुई कन्या स्त्री सन्तति को ही उत्पन्न करती है। छठी रात्रि का बच्चा मध्यम श्रेणी (उदासीन) का उत्पन्न होता है। सप्तम रात्रि की कन्या बन्ध्या होती है, आठवीं रात्रि का लड़का सम्पत्ति का स्वामी होता है। नवीं रात्रि के गर्भ से शुभ स्त्री उत्पन्न होती है। दशवीं रात्रि का पुत्र बुद्धिमान होता है। ग्यारहवीं रात्रि की कन्या अधार्मिक होती है। बारहवीं रात्रि का पुत्र सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति होता है। तेरहवीं रात्रि की

1. जै0गृ0सू0 23.18
2. वही0 23.20
3. गो0गृ0सू0 3.1.3
4. म0स्मृ0 3.48
5. याज्ञ स्मृ0 1.79
6. प्रश्नोपनिषद 1.13

कन्या व्यभिचारिणी होती है चौदहवीं रात्रि का पुत्र धार्मिक होता है पन्द्रहवीं रात्रि की पुत्री बहुत पुत्रों की माँ एवं पतिव्रता होती है। सोलहवीं रात्रि का पुत्र विद्धान, श्रेष्ठ, सत्यवादी,जितेन्द्रिय, और समस्त प्राणियों को शरण देने वाला होता है।[1]

पुंसवन :-

वह संस्कार जिसके अनुष्ठान से पुत्र पुमान (पुरूष) सन्तति का जन्म हो उसे पुंसवन कहते है।[2] यह संस्कार गर्भ निश्चय के पश्चात किया जाता है पुंसवन का काल गर्भ स्थिति से दूसरे अथवा तीसरे मास जब गर्भ में स्पन्दन प्रारम्भ न हो तब है।[3] 'प्रथमें गर्भेतृतीये मसि पुंसवनम्'[4] पुंसवनम् तृतीये मासि।[5] यदि किसी कारणवश इस काल का अतिक्रमण हो गया हो तो प्रायश्चित करके इस कार्य को करना चाहिए।

प्रातःकाल गर्भिणी स्त्री को आराग्र आसदित कुशों पर बैठायें संकल्प नान्दीश्राद्धादि प्रारम्भिक क्रियाओं को करके दम्पत्ति वेदी संस्कार गृह्याग्नि स्थापन आज्य संस्कार आदि कार्यो को करें। तीनों व्याहृतियों से तीन आहुतियाँ प्रदान करें। पूरब मुख करके बैठी हुई वधू के पीछे पति स्थित होकर उसके दाहिने स्कन्ध का स्पर्श करके, मन्त्र पूर्वक वधू के नाभि का स्पर्श करे। ईशान कोण में स्थित किसी वटवृक्ष से उभयफलों से युक्त सरस एवं क्रिमिरहित शुंग (मुकुलित पल्लव) को तोड़ लेवे एवं उसका क्रय कर लेवें। क्रय करते समय ॐ यद्यसि सौमी'[7] आदि आठ मन्त्रों का जप करें। घर लाकर किसी ऊँचे स्थान पर रख देवें एवम् व्याहृतियों से तीन घृताहुतियों को प्रदान करें। सील व लोढ़े को भली भाँति धोकर कोई अच्छे स्वभाव वाली व अच्छे कुल में उत्पन्न ब्राह्मणी अतिशीघ्र उस शुंग को पीसे। उत्तम कुशों पर अग्नि के पश्चिम भाग में लेटी हुई वधू की दाहिनी नासा छिद्र में पति शुद्ध रस को छोड़े इस समय 'ॐ पुमाग्निः[8] मन्त्र का जय करें। घृताहुतियों को प्रदान कर इस कार्य को पूर्ण करे।

---

1. हि०सं० - डॉ० राजबली पाण्डेय पृ० 64-65 2. वही पृ० 73
3. 'अथपुंसवनम् रास्वन्देत इति मासे द्वितीये तृतीये वां' पा०गृ०सू० 1.14.1-2
4. द्रा०गृ०सू० व खा०गृ०सू० 2.2.17 5. जै०गृ०सू० पृ० 6
6. मं.ब्रा. 1.4.8 7. गो०गृ०सू० 2.6.7 8. वही 2.6.7

एक विचारणीय प्रश्न :-

क्या पुंसवन प्रत्येक गर्भ में किया जाय या प्रथम गर्भ में यह विचारणीय प्रश्न है। शौनक के अनुसार यह संस्कार प्रत्येक गर्भधारण के पश्चात करना चाहिए क्योंकि स्पर्श करने और औषधि सेवन से गर्भ पवित्र व शुद्ध हो जाता है इसमें अतिरिक्त इस संस्कार के अवसर पर उच्चारित मन्त्रों के प्रभाव से व्यक्ति में विगत जन्मों को स्मरण करने की क्षमता का संचार होता है।

याज्ञवलक्य स्मृति की मिताक्षरा टीका में स्पष्ट किया गया है कि ये पुंसवन तथा सीमान्तोनयन के कृत्य क्षेत्र संस्कार है अतः इनका सम्पादन एक ही बार करना चाहिए प्रत्येक गर्भ धारण में नहीं।[1]

सीमान्तोन्नयन :-

सीमान्तोन्नयन दो शब्दों के योग से बना है- सीमन्त और उन्नयन। सीमन्त का अर्थ मांग और उन्नयन का अर्थ है उभारना। अतः सीमान्तोन्नयन का अर्थ है केशों के मध्य माँग की रचना करना। चतुर्थे मासि सीमान्तोन्नयनम्[2] के अनुसार आश्वलायन गृह्यसूत्र गर्भ के चौथे मास में इस संस्कार को करने का विधान करता है। पारस्कर के अनुसार इसका काल छठवाँ या आठवाँ महीना है पुंसवनवत् प्रथमें गर्भे मासेषणेऽरमें वा'[3] इस प्रकार प्रथम गर्भधारण के समय चौथे छठवें या आठवें महीने में इस संस्कार को करने का विधान गृहंसूत्रों में उपलब्ध है।

आश्वलायन बौधायन आदि गृह्यसूत्रकार इस संस्कार को केवल दो बार करणीय मानते हैं।

शुक्लपक्ष शुभ तिथि व शुभ दिन में प्रातः दैनिक क्रियाओं को करके नालीश्रद्ध अग्निस्थापन, पर्युक्षण आदि प्रारम्भिक कार्यो को करके व्याहृतियों से तीन घृताहुतियों

1. याज्ञ0स्मृ0 1.11 (मिताक्षरा टीका)
2. आ0गृ0सू0 1.14.2-3
3. पा0गृ0सू0 1.15.1

को प्रदान करना चाहिए। पति पत्नी के पीछे स्थित हो गूलर या शलाट वृक्ष के फलों को पत्नी के किसी बाधने योग्य स्थान के बाँध दे। बाँधते समय 'ऊँ अपभूर्जवती'[1] मन्त्र का उच्चारण करें। कुश की पिञ्जुलियों से पत्नी के केशों को भूः भुवःस्वः द्वारा सँवारें। ऊँ मेनादिते'[2] मन्त्र से वीर वृक्ष के काष्ठ से पुनः सँवारे। मन्त्र ब्राह्मण के 1.5.3 व 1.5.4 के मन्त्रों से क्रमशः देकुआ साही के काँटे से उन्नयन करें। तिल व चावल मिश्रित भात को घृत मिलाकर 'ऊँ प्रजां'[3] मन्त्र से वधू को दिखाये, तत्पश्चात् वधू उसका भक्षण करे एवं ब्राह्मणी उसे आशीर्वाद प्रदान करती हुई इसका समापन करें।

सोष्यन्ती होम :-

प्रसवकाल आसन्न होने पर सुख प्रसव के लिए एक होम का विधान कुछ गृह्यसूत्रों में किया गया है[4] जिसे सोष्यन्ती होम कहा जाता है। गर्भिणी के प्रसव पीड़ा होने पर आचमन व संकल्पूर्वक अग्नि स्थापित कर बिना मन्त्र के ही परिसमूहन व पर्युक्षण करें। 'ऊँ या तिरश्ची'[5] व 'ऊँ विपाश्चित'[6] इन दो मन्त्रों से दो घृताहुतियों को प्रदान करें। द्वितीय मन्त्र में असौ पद के स्थान पर किसी नाम का ऊह कर लेवें, लेकिन इस नाम को यावज्जीवन गुप्त ही रखें।[7]

जातकर्म :-

यह संस्कार बालक के प्रसव काल में किया जाता है। वशिष्ठ ने सीमन्तोन्नयन व जातकर्म के बीच विष्णुबलि नामक कृत्य का भी उल्लेख किया है। महर्षि दयानन्द

1. मं.ब्रा. 1.5.1
2. वही 1.5.2
3. वही 1.5.5
4. आ०पा०गृ०सू० 14.13.15, हि०गृ०सू० 2.2.8, 2.3.1, भारद्वाज गृ०सू० 1.2.2 पा०गृ०सू० 1.6, काठक गृ०सू० 33.1–3
5. जै०गृ०सू० 20.4
6. मं.ब्रा. 1.5.7
7. द्रा०गृ०सू० व खा०गृ०सू० 2.2.32

सरस्वती ने सोष्यन्ती होम तथा जातकर्म को एक ही संस्कार माना है।[1] गर्भस्थ शिशु गर्भकाल में गर्भस्थजल का पान करता है, अतः इस दोष से मुक्ति के लिए एवं वैजिक व गार्भिक दोष से मुक्ति के लिए इस संस्कार को किया जाता है यह संस्कार नालछेदन व स्तनपान से पहले किया जाता है। इस संस्कार में तुर्यन्ति पौधे माता के समक्ष रखे जाते थे।[2] सुरक्षित प्रसव तथा शिशु के जीवित उत्पन्न होने पर बर्तनों को गरम करने तथा माता और शिशु को धूम से पवित्र करने के लिए कमरे में अग्नि प्रदीप्त की जाती थी।[3] जिस पुंसवन में वटवृक्ष के शुंग को पीसने का विधान किया गया है, उसी प्रकार यव व धान्य को मिश्रित कर जल में मिलाकर 'ऊँ इयमाझेदम'[4] मन्त्र से पीसे। पीस कर रस अलग कर उस नवजात शिशु को जिह्वा को प्रक्षालित करें।

जात कर्म और नामाकरण नामक संस्कारों के बीच दो छोटे छोटे कृत्य किये जाते हैं जिन्हे अन्नप्राशन व चन्द्र दर्शन के नाम जाता है जिनको संक्षिप्त रूप में इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है।

मधु प्राशन :-

जात कर्म के बाद एवं स्तनपान तथा नाल छेदन से पहले मधु प्रशन किया जाता है। दाहिने हाथ के अंगूठा और अनामिका अंगुली के द्वारा सोने के टुकड़े पर घृत रख कर शिशु के मुख में 'ऊँ मेधां ते'[5] तथा ऊँ सदसस्पतिम्'[6] मन्त्र द्वारा डालना चाहिए। इसके बाद नाल छेदन व स्तनापन करना चाहिए।

निष्क्रमण चन्द्र दर्शन :-

इसें निष्क्रमण के नाम से संस्कारों में जाना जाता है। यह संस्कार बालक

1. *संस्कार विधि पृ0 76-78*
2. *हि0गृ0सू0 2.2-8 आ0गृ0सू0 14.14*
3. *शां0गृ0सू0 1.25.4, पा0गृ0सू0 1.16.23, बौ0गृ0सू0 1.8*
4. *मं.ब्रा. 1.5.8*
5. *मं.ब्रा. 1.5.9*
6. *जै0गृ0सू0 14.9*

के जन्म के पश्चात तीसरे शुक्ल पक्ष की तृतीया तिथि में[1] अथवा चौथे मास जिस तिथि में बालक का जन्म हुआ हो उस तिथि में करणीय होता है।[2] इसका उद्देश्य बालक को शुद्ध वायु में भ्रमण करना होता है। इस संस्कार के अवसर पर उच्चारण किया जाने वाला 'ऊँ तच्चसविर्तुर्देवहितम्'[3] मन्त्र सामान्य प्रयुक्त है जो किसी समय सूर्य को देखने के लिए प्रयुक्त होने वाला है। गृह्यसूत्रों तथा स्मृतियों के अनुसार सामान्य नियम जन्म के पश्चात् तीसरे या चौथे मास में संस्कार करने का है। यम नें तृतीय और चतुर्थ मास में विकल्प का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है-'तृतीय मास में शिशु को सूर्य दर्शन कराना चाहिए तथा चतुर्थ मास में चतुदर्शन।[4]

दम्पति पुष्यकाल में बालक को स्नान कराकर संकल्प पूर्वक गणेशादि देवताओं का पूजन व नन्दी श्राद्ध करें। तत्पश्चात पूर्वोक्त मन्त्र[5] से सूर्य दर्शन करावें। चतुदर्शन का क्रम यह है-सूर्यास्त हो जाने पर माता बालक को पति के समीप उसके दाहिने तरफ से जाकर गोद में देवें। पिता पुत्र को चन्द्रदर्शन करावें, चन्द्रदर्शन के समय इन तीन मन्त्रों[6] का उच्चारण करें। इसके पश्चात् बालक को माता की गोद में दे देवें। इसके प्रश्चात प्रथम शुक्ल पक्ष की तृतीया को 'ऊँ यद्'[7] मन्त्र से चन्द्रमा की तरफ एक अञ्जली जल प्रदान करें एवं दो अंजलि जल बिना मन्त्र के प्रदान करें। यह जल प्रदान की क्रिया एक वर्ष तक करें।

नामकरण :-

यह संस्कार शिशु के नाम रखने से सम्बन्धित है।[8] पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार नाम दो या चार अक्षरों का होना चाहिए। उसका आरम्भ व्यञ्जन से होना

1. गो0गृ0सू0 2.8.1 द्रा0व खा0गृ0सू0 2.3.1
2. पा0गृ0सू0 1.17.5-6
3. पा0गृ0सू0 1.17.5-6
4. हि0सं0 - डॉ0 राजबली पाण्डेय पृ0 111 के आधार पर
5. पा0गृ0सू0 1.17-5-6
6. मं.ब्र. 1.5.10-12 7. वही 1.5.13 8. आश्व0गृ0सू0 1.15.4

चाहिए। उनमें अर्धस्वर होना चाहिए। नामान्त दीर्घस्वर या विसर्ग युक्त होना चाहिए। नाम कृदन्त होना चाहिए तद्धितान्त नहीं।[1] आश्वलायन गृह्यसूत्र अक्षरों को विभिन्न संख्याओं के साथ विभिन्न प्रकार के गुणों का योग करता है। प्रतिष्ठा अथवा कीर्ति के लिए इच्छुक व्यक्ति को दो अक्षर तथा ब्रह्मवर्चस्कामी व्यक्ति को चार अक्षरों का नाम रखना चाहिए।[2] बालिका का नाम अक्षरों की विषम संख्यां वाला तथा अकारान्त होना चाहिए। उसमें तद्धित का प्रयोग होना चाहिए।[3] अभिवादनीय नाम के विषय में अश्वलायन भी कहते हैं कि यह नामकरण के दिन निश्चित किया जाना चाहिए तथा उपनयन पर्यन्त केवल माता-पिता को ही ज्ञात होना चाहिए।[4]

गृह्यसूत्रों के सामान्य नियम के अनुसार नामाकरण संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् दशवें या बारहवें दिन सम्पन्न किया जाता था। इसका एक मात्र अपवाद का गुप्तनाम,जो कुछ आचार्यो के अनुसार जन्म के दिन रखा जाता था। गोभिल, खादिर व द्राह्यायण गृह्यसूत्र संतानोत्पत्ति के दस दिन, सौ दिन या एक संवत्सर-व्यतीत हो जाने पर नामकरण संस्कार का समय मानते हैं[5] जिस दिन इस संस्कार को करना हो उस दिन बच्चे सहित पत्नी को दाहिनी तरफ बैठाकर पति संकल्प, नान्दीश्राद्ध, प्रारम्भिक क्रियाओं को करें। वेदि को संस्कृत कर उसमें लौकिकाग्नि स्थापित कर उसका पर्युक्षणादि कर अग्नि में घृत संस्कृत कर लें। नये वस्त्र से मुख छोड़कर बच्चे की सभी अंगो को ढ़की हुई माता-पिता के गोद में बच्चे को देकर माता बच्चे के पिता के पृष्ठ भाग में जाकर उत्तराग्र बिछायें हुए कुशों पर पूरब मुख करके बैठ जाय। स्त्रुवा को जल से धोकर, अग्नि पर तृप्त कर लेवें। प्रजापति, बच्चे के जन्म की तिथि,नक्षत्र एवं नक्षत्र को देवता को घृताहुतियाँ प्रदान करें। हवन पूर्ण कर बच्चे मुख,कर्ण नेत्र एवं

1. पा०गृ०सू० 1.17.1
2. आश्व०गृ०सू० 1.15.5
3. पा०गृ०सू० 1.17.3
4. आ०गृ०सू० 1.15.9
5. गो०गृ०सू० 2.8.8 द्रा०गृ०सू० व खा०गृ०सू० 2.3.6

नासिका का स्पर्श 'ऊँ कोऽसि'[1] मन्त्र पूर्वक करना चाहिए। मन्त्र में प्रयुक्त उसौ पद के स्थान पर जो नाम बच्चे का रखना हो उसका उच्चारण करना चाहिए। इस कार्य के अन्त में ब्राह्मण को दक्षिण प्रदान करे। हर वर्ष बच्चे के जन्म के प्रत्येक माह की तिथियों को इन्द्र,अग्नि,द्यावपृथवी एवं विश्वदेवों को अहुतियाँ प्रदान करना चाहिए।

अन्नप्राशन :-

अन्नप्राशन का अर्थ है अन्न खिलाना। गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार शिशु के जन्म से छठवें महीने के बाद किया जाता था।[2]

जिस दिन इस संस्कार को करना हो उस दिन प्रातःकालीन क्रियाओं से निवृत्त होकर स्थलीपाक रीति के अनुसार अन्न का स्वच्छीकरण व पकाने की क्रिया करें। अन्न पक जाने पर मन्त्रों के साथ-साथ[3] वाग्देवी के लिए आहुति प्रदान करें। द्वितीय आहुति ऊर्जा के मन्त्र[4] को देनी चाहिए। इसमें शिशु की समस्त इन्द्रियों की सन्तुष्टि के लिए प्रार्थना की जाती है। पिता बालक को खिलाने के लिए सभी स्वाद युक्त भोज्य सामाग्रियों को रखता है।[5] भोजन मुख में डालते समय मौन रहना चाहिए अथवा 'हन्त' शब्द के उच्चारण के साथ करना चाहिए। कई गृह्यसूत्रों में भोज्य सामाग्रियों में मांस भी प्रयुक्त है[6] ब्राह्मण भोजन व दक्षिणा प्रदान कर इस कार्य का समापन करना चाहिए।

चूडाकरण :-

गार्भिक दोषों को दूर करने के लिए यह संस्कार किया जाता है। गृह्यसूत्रों के अनुसार संसकार्य व्यक्ति के लिए दीर्घ, आयु, सौन्दर्य तथा कल्याण की प्राप्ति ही

1. द्रा0गृ0सू0 2.8.8 द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 2.3.6
2. पा0गृ0सू0 1.19.2, बौ0गृ0सू0 2-3, आ0गृ0सू0 1.16, शां0गृ0सू0 1.27 भा0गृ0सू0 1.27, मा0गृ0सू0 1.20
3. पा0गृ0सू0 1.19.2
4. पा0गृ0सू0 1.19.3
5. पा0गृ0सू0 1.19.4
6. आ0गृ0सू0 1.10, आ0गृ0सू0 1.16.1, शां.गृ.सू. 1.27

इस संस्कार का प्रमुख प्रयोजन था।[1]

काल :-

यह संस्कार तृतीय वर्ष में किया जाता है[2] लेकिन यह काल एक मत से स्वीकार्य नहीं है। कुछ गृह्यसूत्र इसे प्रथम वर्ष में करणीय मानते हैं।[3] कुछ गृह्यसूत्र इसे प्रथम या तृतीय वर्ष में करणीय मानते हैं।[4]

जिस दिन इस संस्कार को करना हो उस दिन प्रातः कार्यो को पूर्ण करके वेदि के पश्चिम भाग में बैठकर संकल्पादि प्रारम्भिक कार्यो को करे। वेदि में लौकिकाग्नि की स्थापना करें। आज्य को सस्कृत कर अग्नि के दक्षिण भाग में उत्तराग्र आसादित कुशों पर 2। कुशों की पिञ्जुलि, कांसे के बर्तन, गर्मजल, क्षुर, शीशा आदि रखें। इन सभी उपकरणों के दक्षिण भाग में नाई को बैठायें। अग्नि के उत्तरभाग में तिल एवं तन्दुल को मिला कर एवं गाय के गोबर को रखें। अग्नि के पूर्वी भाग में व्रीहि यव तिल एवं उडद अलग-अलग पात्रों में रखें। तिल मिले हुए भात को वहीं रखें। बालक को माता नया वस्त्र पहनाकर अग्नि के पश्चिम तरफ उत्तराग्र बिछाये हुए कुशों पर पूरब मुख करके बैठ जाँय। तीन व्याहृतियों से तीन आहुतियाँ एवं चौथी आहुति सम्पूर्ण व्याहृतियों के साथ प्रदान करें। बालक को लेकर बैठी हुई माता के पृष्ठ भाग में पूर्वाभिमुख होकर पिता खडा हो जाय।'ऊँ अयमगात्'[5] मन्त्र से पिता नापित का अवलोकन करे और 'ऊँ उष्णेन वायु'[6] मन्त्र से गर्म जल का अवलोकन करे। कांसे के पात्र में जल लेकर पिता'ऊँ आप उन्दन्तु'[7] मन्त्र से बालक के दाहिनी तरफ के बालों को भिगोयं। 'ऊँ विष्णों'[8] मन्त्र से क्षुर एवं शीशे को देखें।'ऊँ ओषधे

1. *आ0गृ0सू0 1.17.12*
2. *गो0गृ0सू0 2.9.1, खा0गृ0सू0 व द्रा0गृ0सू0 2.3.16, जै0गृ0सू0 11.16*
3. *पा0गृ0सू0 2.1.1*
4. *बौ0गृ0सू0 24, बैखानस 3.23*
5. *मं.ब्रा. 1.6.1*
6. *जै0गृ0सू0 94*
7. *वही 96*
8. *मं.ब्रा. 1.6.4*

त्रायस्वैनम्'[1] मन्त्र से दाहिनी तरफ के केशों में कुशों की बनी सातो पिञ्जुलियों को बांधे। पिञ्जुलियों सहित केशों को बायें हाँथ से पकड़ कर दाहिने हाथ से क्षुर एवं शीशा को लेकर''ऊँ स्वांधते मैनं हिंसीः'[2] मन्त्र से क्षुरे को बालों पर लगायें। 'ऊँ येन पूषा'[3] मन्त्र से नापित बालों को काटें। यह केश कर्तन क्रिया सब मिला कर तीन बार होना चाहिए। अन्तिम दो बार केश कर्तन बिना मन्त्र के होता है। पिञ्जुलि सहित बालों को उत्तरभाग में रखे हुए गोबर में गाड़ देना चाहिए। इसी रीति से बायें और पीछे के बालों को काटना चाहिए। व्याहृतियों द्वारा घृताहुतियों को प्रदान कर केश मिले गोबर को बस्ती से बाहर ले जाकर जमीन में खोद कर गाड़ देना चाहिए। बालिकाओं के मुण्डन में मुख्य कार्य मन्त्र से एवं सामान्य बिना मन्त्र से किये जाते है। दक्षिणा पूर्वक इस कार्य का समापन करना चाहिए।

कर्णबेध :-

प्रारम्भिक काल में कर्णवेध का प्रयोजन मात्र अलंकारों को धारण करना था, इसीलिए कर्णवेध को संस्कार के रूप में मान्यता आधुनिककाल में ही माना जाने लगा। इस संस्कार का किसी भी गृह्यसूत्र में उल्लेख प्राप्त नहीं होता, केवल पारस्कर गृह्यसूत्र के परिशिष्ट में स्थित कात्यायन सूत्रों में ही इसका उल्लेख प्राप्त होता है।

बृहस्पति की मान्यता के अनुसार यह संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् दसवें, बारहवें सोलहवें दिन किया जाता था। गर्ग के अनुसार षष्ठ,सप्तम, अष्टम, अथवा बारहवें महीने का समय इस संस्कार को उपयुक्त समय है। श्रीपति का मत है कि शिशु के दाँत निकलने से पूर्व जब कि शिशु माता की गोद में ही खेलता है,कर्ण वेध संस्कार सम्पन्न करना चाहिये।[4]

कात्यायन के अनुसार यह संस्कार- पिता द्वारा किया जाना चाहिए। सुश्रुत

1. मं.ब्रा. 1.6.5
2. वही 1.6.6
3. वही 1.6.7
4. हि0सं0 - डॉ0 राजबली पाण्डेय पृ0 130

के अनुसार कर्णवेध भिक्षक को करना चाहिए।[1] आधुनिक समय में यह कार्य सुनार ही कर देता है।

जिस दिन इस संस्कार को करना हो उस दिन प्रातः कालीन क्रियाओं को सम्पन्न कर दिन के पूर्वाद्ध में इस संस्कार को करना चाहिए। शिशु को पूर्वाभिमुख बैठा कर बालक को कुछ मिठाइयाँ खने को दे दीजाती है। निम्न मन्त्रों[2] के साथ पहले दाहिने कान को फिर बायें कान को छेदना चाहिए। कन्या का पहले बाँया ,फिर दाहिना कान छेदना चाहिए। अन्त में ब्राह्मणों ज्योतिषियों, वैद्यों को दक्षिणा देना चाहिए। स्त्रियों,मित्रों और सम्बन्धियों का सत्कार एवम् मनोरंजन करना चाहिए।[3]

उपनयन :-

उपनयन एक ऐच्छिक संस्कार है। अध्ययन के लिए इच्छुक व्यक्ति को यज्ञोपवीत धारण करना अनिवार्य था। गृह्यसूत्र उपनयन को अनिवार्य संस्कार मानते हैं।गृह्यसूत्र उपनयन के विधानों का विशद वर्णन करते हैं।[4]

'उपसमीपनीयते येन कर्मणा तदुपनयनम्'[5] अर्थात इस कर्म के द्वारा शिष्य गुरु के समीप वेदाध्ययन के लिए लाया जाता है,वह कर्म उपनयन कहलाता है। इसमें जिस यज्ञोपवीत को धारण किया जाता है वह कर्पास के सूत्र का होता है। समय विशेष में सूत्र अथवा कुशरज्जु के द्धारा ही निर्मित किया जाता है।[6] गृह्यसूत्रों में ऐसा विधान किया गया है कि ब्राह्मण का उपनयन आयु के आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य का बारहवें वर्ष में करना चाहिए।[7] यह आयु गणना गर्भ

1. अ० वे० 16.2
2. पा०गृ०सू० परिशिष्ट कर्णवेधसुर 1-2
3. हि०सं० - डॉ० राजबली पाण्डेय पृ० 133
4. शा०गृ०सू० 2.1, आ०गृ०सू० 1.19.3.5 पा०गृ०सू० 2.2, गो०गृ०सू० 2.10, खा०गृ०सू० व द्रा०गृ०सू० 2.4.3, हि०गृ०सं० 1.12.18, आप०गृ०सू० 10
5. गो०गृ०सू० पृ० 453
6. गो०गृ०सू० 1.2.1 द्रा०गृ०सू० व खा०गृ०सू० 1.1.4-6
7. आ०गृ०सू० 1.19, बौ०गृ०सू० 2.5, पा०गृ०सू० 2.2, शां०गृ०सू० 2.1

से होती है। यदि किसी कारण वश इस काल का अतिक्रमण हो जाय तो ब्राह्मण,क्षत्रिण एवं वैश्य का क्रमशः सोलह,बाईस, एवं चौबीस वर्ष में करना चाहिए।[1] यदि किसी कारणवश इस काल का भी अतिक्रमण हो जाता है तो ये पतितसावित्रिक कहे जाते हैं, ऐसी स्थिति में इनको अध्ययन, यजन एवं विवाह वर्जित होते हैं। अतः से व्रात्य स्त्रोत्यादि प्रायश्चितों को करके पुनः उपनयन करा सकते हैं।

शुभ दिन व नक्षत्र में सहकर्म स्वरूप नान्दी श्रद्धादि करना चाहिए। प्रथम भोजन के बाद शिखायुक्त मुण्डन कराना चाहिये। स्नान व वस्त्रधारण करके अपनी माता व पिता के साथ पूर्वाभिमुख होकर बैठ जाना चाहिए। वेदि को साफ एवं सस्कृत करें। इस वेदि में समुद्भव नामक लौकि अग्नि की स्थापना करनी चाहिए।

दर्शपौर्णमास में बतलाई गई विधि के अनुसार प्रारम्भिक कार्यो को करके आचार्य अथवा पिता बालक को अपने दाहिने भाग में बैठायें। सर्वप्रथम व्याहृतियों से चार आहुतियाँ प्रदान करें। 'ऊँ अग्ने व्रतपते'[2] आदि पाँच मन्त्रों से पाँच आहुतियाँ प्रदान करें। तत्पश्चात आचार्य अग्नि के पश्चिम भाग में उत्तराग्र आस्तीर्ण कुशाओं पर बैंठे। आचार्य व अग्नि के बीच में बालक अञ्जलि जोड़कर बैठे आचार्य बालक की अञ्जलि को जल से पूरित कर दें। आचार्य बालक से 'ब्रह्मचर्यम्'[3] ऐसा कहे तत्पश्चात् आचार्य को नामासीति'[4] ऐसा प्रश्न करें। बालक देवता, नक्षत्र या गोत्र के आधार पर किसी नाम की कल्पना करके उत्तर दे। आचार्य व बालक अपनी जलांजलि को जमीन पर छोड़ दें। आचार्य अपने दाहिने हाँथ से बालक के दाहिने हाँथ के अंगूठे का स्पर्श 'ऊँ देवस्यते'[5] मन्त्र द्वारा करें। मन्त्र के अन्त में आये हुए असौ पद के स्थान पर बालक का नामोच्चारण होना चाहिए। बालक 'ऊँ सूर्यस्य'[6] मन्त्र से अपने

---

1. पा0गृ0सू0 2.5.36-38, गो0गृ0सू0 2.10.3, जै0गृ0सू0 12.5
2. जै0गृ0सू0 11.7 गो0गृ0सू0 2.10.19
3. जै0गृ0सू0 11.7 गो0गृ0सू0 2.10.20
4. मं.ब्रा. 1.6.18 5. वही 1.6.19
6. जै0गृ0सू0 11.13

ही स्थान की परिक्रमा करके पूरब मुख करके बैठ जाय। आचार्य 'ऊँ प्राणानाम्'[1] मन्त्र से अपने दाहिने को बालक के दाहिने कन्धे से ले जाकर खुली हुई बालक नाभि का स्पर्श करें। 'ऊँ कृशन्'[2] मन्त्र से बालक के हृदय का स्पर्श करें। दाहिने व बायें हाँथ से क्रमशः दाहिने व बायें कन्धे का स्पर्श क्रमशः 'ऊँ प्रजापतये'[3] व ऊँ देवाय'[4] मन्त्रों से करे। 'ऊँ ब्राह्म'[5] मन्त्र से दोनों हाथों से दोनों कन्धों का स्पर्श एक साथ करे। आचार्य बालक को उपदेश दें। अग्नि के उत्तराग्र आसादित कुशाओं पर आचार्य व बालक घुट्ने के बल बैठें। मन्त्रों को पढ़ता हुआ आचार्य बालक की कमर मेखला कों लपेटकर को प्रवरानुसार गाँठ देवें। बालक आचार्य से गायत्री मन्त्र की अभ्यर्थना करें व आचार्य बालक को गायत्री मन्त्र का उपदेश दें। 'ऊँ सुश्रुत'[6] मन्त्र से बालक को दण्ड प्रदान करें। बालक दण्ड धारण करके सर्वप्रथम माँ से भिक्षा मांगे।[7] दूसरे दिन ब्रह्मचारी आचार्य से भिक्षा ग्रहण करें। ब्रह्मचारी सूर्य के अस्तंगत हो जाने पर 'ऊँ अग्नेय'[8] मन्त्र समिधाहुति प्रदान करे। भिक्षा मांगते समय ही ब्रह्मचारी प्रारम्भ करना चाहिए। जब तक वेदों का अध्ययन प्रारम्भ नहीं होता है तक केवल गायत्री मंत्र का ही जप करें। इस संस्कार के होने के तीन दिन बाद तक क्षारीय व लवणीय भोजन का त्याग करें। दक्षिणादि कार्यो को करके इस कार्य को पूर्ण करें।

इस संस्कार में आचार्य बालक को एक दण्ड देता है।[9] कुछ आचार्यो के मत से बालक को दण्ड उस मन्त्र के साथ ग्रहण करना चाहिए जिसका उच्चारण दीर्घतम

1. मं.ब्रा. 1.6.22
2. वही 1.6.23
3. वही 1.6.21
4. वही 1.6.25
5. जै0गृ0सू0 12.6
6. वही 12.8
7. गो0गृ0सू0 2.10.39
8. जै0गृ0सू0 11.21
9. पा0गृ0सू0 2.2.14

के आरम्भ में दण्ड ग्रहण करते हुए किया जाता है।[1] मानव गृह्यसूत्र का कहना है कि वस्तुतः ब्रह्मचारी विद्या के सुदीर्घ मार्ग का गामी होता है।[2] कुछ गृह्यसूत्र दण्ड को प्रहरी का प्रतीक मानते हैं।[3] ब्राह्मण का दण्ड पलाश, क्षत्रिय का उदुम्बर व वैश्य का बिल्व का होना चाहिए।[4]

समावर्तन :-

वेदाध्ययन के पश्चात् गुरुगृह से अपने घर की तरफ आगमन ही समावर्तन है। यह संस्कार ब्रह्मचर्य समाप्ति का सूचक होता है। इसे स्नान भी कहा जाता है। यह संस्कार उन्ही का होता था जो सम्पूर्ण अध्ययन को पूर्ण कर ब्रतों का पालन कर चुके रहते हैं। जटामांसी कूट शिलाजीत, भ्रदमशता कर्पूरवत मिश्रित जल के ब्रह्मचारी को स्नान कराया जाता था।

जो दिन इस संस्कार के लिए उचित हो उस दिन आचार्यकुल से उत्तर या पूर्व की तरफ मण्डप बनाया जाता था। ब्रह्मचारी अपने को प्रातः एक कमरे में बन्द रखता था। संस्कार के समय पूर्वाग्र कुशों पर आचार्य व उत्तराग्रकुशों पर ब्रह्मचारी तेजप्रवाहित के लिए बैठ कर स्नान करे। पशुगृहि की कामना करने वाला गोशाले में स्नान करे। यश चाहने वाला वेदाध्ययन के स्थान पर स्नान के लिए बैठें।[7] दर्शनौर्णमास विधि से स्थालीपाक करें। यज्ञीय सामग्रियों को उचित स्थानों पर रखकर संकल्पादि प्रारम्भिक कार्यो को करे। सर्वोषधि युक्त जल से 'ॐ येऽप्स्वन्तः'[8] मन्त्र से एक अज्जलि जल लेवें। 'ॐ यदपाम्'[9] मन्त्र से जलांजलि से पृथ्वी को अभिषिक्त करें

1. पा0गृ0सू0 2.2.14 (हरिहर द्वारा उद्धृत)
2. मा0गृ0सू0 1.22.11
3. वा0गृ0सू0 6
4. आ0गृ0सू0 1.19.10
5. द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 3.1.3
6. वही 3.1.4
7. वही 3.1.5
8. मं.ब्रा. 1.7.1
9. वही 1.7.2

तीन मंत्रों से सर्वोषधि युक्त जल को तीन अंजलियों से तीन बार अपने शिर पर छोंडे। चौथी बार बिना मन्त्र के सम्पूर्ण शरीर का विधिवत् स्नान करें। स्थानोपरान्त 'ऊँ उद्यन'[1] मन्त्र से सूर्य की स्तुति करे। 'ऊँ उपुत्मम्'[2] मन्त्र से ब्रह्मचर्य के समय धारण की हुई मेखला का परिक्षण करें। क्षैार कर्म कराते समय दाढ़ी व मूछों का भी कर्त्तन करादेना चाहिए। स्नान वस्त्र व अहंकार धारण व भोजन करके 'ऊँ श्रीरसि'[3] मन्त्र से सुगन्धित फूलों की माला धारण करें। 'ऊँ नेत्रयै'[4] मन्त्र से जूता तथा ऊँ गन्धर्वः'[5] मन्त्र से छड़ी धारण करें। संस्कार्य 'ऊँ यक्षमिव'[6] मन्त्र से स्वजनों सहित आचार्य का अवलोकन करें। 'ऊँ ओष्ठा'[7] मन्त्र से मुख नेत्र, कर्ण व नासिका का स्पर्श करें। विवाह में बतलाई गई मधुवर्क विधि के अनुसार आचार्य स्नातक की पूजा करें। ऊँ वनस्पते[8] मन्त्र से स्नातक बैल संयुक्त रथ का स्पर्श कर असीन हो जाय। स्नातक के निवासस्थान के चारों ओर रथारूढ स्नातक का भ्रमण कराकर पुनः आचार्य के समीप रखें व स्वजन उसका सत्कार करें। दक्षिणाप्रदानादि कार्यो को करके इस कार्य का समापन करें।

प्रस्तुत प्रकरण में स्नातक शब्द आया है, स्नातक का अर्थ है ब्रह्मचर्य पूर्ण कर समावर्तन कर लेने वाला ये स्नातक तीन प्रकार के होते है[9] विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रत स्नातक।

जो पच्चीस वर्ष की अवस्था के पहले ही सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करके समावर्तन कर लिये हों वे विद्यास्नातक कहे जाते हैं। जिनकी अवस्था पच्चीस वर्ष पूर्ण

1. मं.ब्रा. 1.7.6
2. जै०गृ०सू० 17.8
3. मं.ब्र. 1.7.11
4. वही 1.7.12
5. वही 1.7.13
6. वही 1.7.14
7. वही 1.7.15 पा०गृ०सू० 1.3.1-2
8. मं.ब्रा० 1.7.16
9. गो०गृ०सू० 3.5.22, पा०गृ०सू० 2.5.33

हो गई हो किन्तु वेदाध्ययन अभी अपूर्ण हो वे व्रतस्नातक कहे जाते हैं। जो पच्चीस वर्ष की अवस्था पूर्ण होते होते वेदों का अध्ययन भी पूर्ण कर लिए हों वे विद्याव्रत स्नातक कहे जाते हैं।

आचार-विचार :-

1. इस संस्कार के पश्चात् स्नातक वृद्धजनों के व्यवहार का अनुकरण करने वाला होवे।
2. विवाह के लिए योग्या से ही विवाह करें।
3. गर्भाधान के योग्या के ही साथ गर्भाधन करें।
4. दो बार पकाये गये भोजन को न ग्रहण करें।
5. बासी व अशुद्ध स्थान से लाये गये भोजन को न ग्रहण करे।
6. हाथों से जूता न निकाले।
7. वर्षा होते समय यात्रा न करें।
8. निर्गन्ध फूलों की माला न धारण करें।
9. कूप के भीतर न देखें।
10. माला के लिए स्रक शब्द का उच्चारण न करें।
11. वृक्ष पर न चढ़े
12. सत्यवादी होवें
13. हमेशा सूखे वस्त्रों को धारण करें।
14. कभी भी एक वस्त्र न धारण करें।
15. देवताओं के समान मनुष्यों की स्तुति न करें।
16. सायंकाल में अकेला व शूद्र के साथ दूसरे ग्राम में गमन न करें।
17. जिस मार्ग पर आवागमन कम हो उससे यात्रा न करें।
18. शास्त्र सम्मत सभी आचारों का पालन करें।

अन्त्येष्टि :-

अन्त्येष्टि का शाब्दिक अर्थ है अन्त में होने वाला यज्ञ। हिन्दू धर्म में इसे अन्तिम संस्कार माना जाता है। हिन्दू धर्म में परलोक को बड़ा ही सम्मान दिया गया है, अतः परलोक को जीवात्मा के लिए कल्याणकारी बनाने के लिए इस संस्कार को किया जाता है। गृहसूत्रों के अनुसार मृत्यु के पश्चात् किए गये होम के पश्चात् तुरन्त उदुम्बर की लकड़ी की एक अर्थी बनाकर उस रोयेदार कालेमृग के चर्म का एक टुकडा बिछाकर शिर को दक्षिण की ओर तथा मुंह को ऊपर की ओर करके शव को उस पर लिटा देना चाहिए।[1] मृतक का शरीर सफेद अहत वस्त्र से ढकदेना चाहिए। टके शरीर को बर्नी अर्थी पर लिटाया जाता है।

शव को दो बैलों द्वारा ढायी जाने वाली गाडी से ले जाना चाहिए।[2] शवनामा का नेतृत्व सामान्यतया मृतक पुत्र या कोई सगा शोकाकुल ही करता है।[3] दो वर्ष से अधिक आयु के सभी सपिण्डों को शवयात्रा करनी चाहिए।[4] गृह्यसूत्र के काल में शवयात्रा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सदस्य राजगनी या अनुस्तरणी[5] नामक पशु होता था। इसमें गाय प्रयुक्त होती थी। गाय के स्थान पर बकरे का भी प्रयोग किया जा सकता था। पशु लाते समय मन्त्र[6] का प्रयोग किया जाता था। इस मन्त्र के अर्थ से यही स्पष्ट है कि पशु का आलम्बन भी किया जाता था। लेकिन बलि के समय कोई घटना घट जाती थी तो पशु को मुक्त कर दिया जाता था।

श्मशान भूमि पर पहुँचने के बाद चिता तैयार की जाती है।[7] चिता के सम्बन्ध में भी गृह्यसूत्रों की अपनी व्यवस्थायें हैं। जैमिनी गृह्यसूत्र के अनुसार चिता

1. हि०सं० – डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ० 313
2. आ०गृ०सू० 4.1
3. पा०गृ०सू० 3.10 (जयराम कृत पद्धति के अनुसार)
4. पा०गृ०सू० 3.10.8
5. बौ०गृ०सू० 1.4.1
6. आ०गृ०सू० 4.1
7. आ०गृ०सू० 4

के साथ 360 पलाश के पत्तों का भी प्रयोग करना चाहिए। ये 360 पत्ते शरीर के विभिन्न अंगों के प्रतीक है जैसे-भुजा-100, नाक-10, अंगुली 10 छाती 30 पैर 30 आदि। ब्राह्मण व्यक्ति के शव के हाथ में एक स्वर्ण पिण्ड, क्षत्रिय के हाथ में धनुष और वैश्य के हाथ में मणि होना चाहिए।[1] इसके बाद दाह क्रिया करनी चाहिए।[2] दाहकर्म आध्वनीय अग्नि में दी हुई आहुति के समान होता है।[3]

अशौच सम्बन्धी अनेक नियम गृह्यसूत्रों में अनुस्यूत हैं।[4] अशौच की अवधि में पालन करने योग्य नियम दो प्रकार के हैं-निषेधात्मक और विध्यात्मक।[5] निषेधात्मक के अन्तर्गत शोकार्त के भोग विलास निषिद्ध कर दिये जाते है गृह्यसूत्र आदि भी निषिद्ध कर दिये जाते हैं। विध्यात्मक के अन्तर्गत जीवित सम्बन्धी है। शोक के भावों को प्रकट करते हुए तीन दिन तक संयम, भूमि शयन भिक्षान्न भोजन करते हैं। भोजन केवल मध्याह्न में एक बार करते है।

दाहकर्म के बाद महत्वपूर्ण क्रम है अस्थिसंचयन[6]। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार अंस्थिसंचयन मृत्यु के तेरहवें दिन या पन्द्रहवें दिन करना चाहिए।[7] बौधायन के अनुसार दाह से तीसरे पाँचवे या सातवें दिन अस्थि संचयन करना चाहिए। अस्थियों को धोकर एक पात्र में अथवा कृष्ण मृग के चर्म में लपेट देना चाहिए। बधी अस्थि को शमी वृक्ष की शाखा में लटका देना चाहिए। आश्वलायन स्त्रियों की अस्थियों को छेक किए गये पात्र में और पुरूषों की अस्थियों को बिना छिद किए गये पात्र में और पुरूषों की अस्थियों को बिना छेद किए गये पात्र में रखने का विधान करते है।[8] उन

1. हि0सं0 - डॉ0 राजबली पाण्डेय - पृ0 318
2. आ0गृ0सू0 - 4.1-2, आ0गृ0सू0 1.2
3. उपर्युक्त
4. पा0गृ0सू0 3.10.46-47
5. वही 3.10.31-32
6. आ0गृ0सू0 5.5
7. आ0गृ0सू0 4.5
8. आ0गृ0सू0 4.5

व्यक्तियों की अस्थियों का पुनः दाह किया जाय जो यज्ञादि का विधान किए हो और जिन्होंने यज्ञादि का विधान नहीं किया है उनकी अस्थियों को गड्ढा खोदकर गाड दिया जाता था।

अगली महत्वपूर्ण क्रिया शान्तिकर्म है।[1] इस क्रिया से पुष्ट प्रभावों के निवारण व साधारण जीवन में लौटने के लिए प्रभावशाली उपाय अपनाये जाते हैं। सब लोग गृह्याग्नि में पश्चिम भाग में स्थित हो चार आहुतियों को प्रदान करें। सम्बन्धी खड़े होकर लाल वृषभ का स्पर्श करें व मन्त्र उच्चारण करे।[2] पुरानी अग्नि को दूर कर नवीन अग्नि का आधान करना चाहिए। इसके बाद भोज का प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

---

1. आ०गृ०सू० 4.5
2. उपर्युक्त

अध्याय द्वितीय
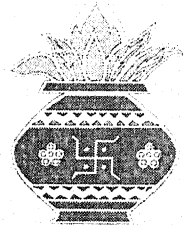
द्वितीय अध्याय

आयुर्वेद व प्रमुख आयुर्वैज्ञानिक ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

किसी भी विषय के तलस्पर्शी ज्ञान के लिए उसका परिचय प्राप्त करना पहली सीढ़ी है। संस्कारों का आयुर्वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए आयुर्वेद के प्रमुख सिद्धान्तो व ग्रन्थों का परिचय भी परमआवश्यक है।आयुः अर्थात् जीवन का वेद अर्थात, ज्ञान ही आयुर्वेद है। इतिहास तो पूर्व संस्तुत स्मृतियों का एक संकलन मात्र है। समृद्धि पथ पर क्रमशः अग्रसरित आयुर्व्रेद रूपी नदी के आदि श्रोत मनुष्यों को वेदों में ही उपलब्ध होकर शरीर क्षेत्र को निरन्तर सिंचित करते चले आ रहे हैं। इन्हे हम इस प्रकार अभिव्यक्त कर सकते हैं।

आयुर्वेद की अनादि परम्परा :-

आयुर्वेद की धारा अनवरत अविच्छिन्न गति से चली आ रही है। यह संसार दुःखमय के ताप से सन्तप्त होकर इससे छुटकारा पाना चाहता है। यह सुख-दुःख का अनुभव जब से प्रारम्भ हुआ तभी से आयुर्वेद का भी प्रारम्भ माना जाता है।[1] विद्वद्गण वेदों के समान आयुर्वेद को भी सृष्टि से पूर्व का मानते है।[2] अन्य विद्याओं के समान आयुर्वेद की भी परम्परा ब्रह्मा से मानी जाती है।[3] आयुर्वेद ज्ञाताओं में ऐसी अवधारणा है कि एक लाख श्लोकों वाला आयुर्वेद जो अष्टांग परिपूर्ण था को ब्राह्म से सर्वप्रथम दक्ष प्रजापति ने सीखा।

दक्ष से इस ज्ञान को अश्विनी कुमारों ने सीखा,जो देवंभिषक् माने जाते हैं। अश्विनी कुमारों के नाम अनेक आयुर्वेदीय चमत्कार लिखे है।। अश्विनी कुमारों से इस ज्ञान को इन्द्र नेसीखा। यहाँ तक की परम्परा देव लोक में रही। मृत्युलोक में यह विद्या कैसे आई? किसने सर्वप्रथम पृथ्वी पर इस ज्ञान को प्राप्त किया? इस विषय

1. *'सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो ....नित्यत्वाच्च।।' च0सं.सू0 30/26*
2. *सु0सं0सू0 1/3*
3. *ब्राह्मण हि.........पुनस्ततः।' च0सं0सू0 1/4*

में विद्धानों में गहरा मतभेद है। इस विषय में हम आख्यान प्रचलित है-धर्म,अर्थ, काम व मोक्ष की साधनाओं में लोगो की शारीरिक शक्तियाँ क्षीण होने लगी तब इस बाध ा को दूर करने के लिए हिमालय के पवित्रधाम पर परमज्ञानी व कारुणिक ऋषियों की मण्डली एकत्रित हुई। ऋषि मण्डली ने अपने ध्यान,योग व चिन्तन के माध्यम से यह जाना कि देवराज इन्द्र ही इस बाधा को दूर कर सकते हैं।[1]

जब इस धराधाम पर यह विद्या आयी तब इसके अनेक भेदोपभेद हो गये। सभी ऋषिगण अपने मत की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने के लिए इन्द्र से अपना सीध ा सम्पर्क अभिव्यक्त करते है। मेरी दृष्टि में आयुर्वेद के भिन्न-2 अंगो के ज्ञान को इन्द्र ने भिन्न-भिन्न ऋषियों को प्रदान किया। इसी लिए धन्वन्तरि के साथ शल्य,कश्यप के साथ कौमारभृत्य,भरद्वाज के साथ कायचिकित्सा का सम्बन्ध जाना जाता है। अत्रिदेव विद्यालंकार जी न` इनतीनों ऋषियों का सम्बन्ध इन्द्र के साथ बतलाया है।[2] आज भी यह परम्परा देखी जाती है कि जो विद्यार्थी जिस विषय में रुचि रखता है उसी का अध्ययन करता है।

आयुर्वेदीय ऋषियों के नामों के विषय में विद्धानों एकमात नहीं है उदाहरणार्थ 'आत्रेय' शब्द को लिया जाय, अत्रि का पुत्र आत्रेय होता है। पुनर्व्रसु आत्रेय,कृष्णात्रेय, भिक्षु आत्रेय आदि शब्द आत्रेय के विषय मे उलझने पैदा करते हैं। अत्रिदेव जी ने पुनर्वसुआत्रेय और कृष्णात्रेय को एक ही ब्यक्ति मानते है।[3] इसी नाम के लिए चरक संहिता[4] और भेल संहिता[5] में'चन्द्रभागी' शब्द प्रयुक्त होता है। इस वर्णनों से यह स्पष्ट होता है किं आत्रेय शब्द सम्भवतः गोत्रवाची हो। चरक और सुश्रुत संहिताओं में ऋषियों के विषय में वैभत्य दिखाई देता है। चरक संहिता[6] में भरद्वाज के लिए'कुमार

1. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - वाचस्पति गैरोला पृ0 292
2. आयुर्वेद का इतिहास -अभिदेवविद्यालंकार पृ0 46
3. वही पृ0 51
4. च0सं0सू0 अ0 13
5. भेल संहिता पृ0 30
6. च0सं0शा0 अध्याय - 6/21

शिरा' नाम का प्रयोग किया गया है। चरक संहिता में ही एक स्थल पर पुनर्वसु आत्रेय का भरद्वाज के मतों से अन्तर दिखलाया गया है।[1] यह अनुचित है क्योंकि इन्द्र से सीधे भरद्वाज ने शिक्षा ग्रहण की थी और उनके सिद्वान्तों का खण्डन सहज स्वीकार्य नहीं है। हो सकता है भरद्वाज नामक कोई अन्य विद्वान रहा हो उसके सिद्धान्त पुनर्वसु आत्रेय द्धारा खण्डित किये गये हों।

इसी प्रकार 'धन्वन्तरि' शब्द के विषय में भी अनेक भ्रमपूर्ण विचार अवबोधित होते हैं।

धन्वन्तरि शब्द किसी व्यक्ति विशेष का बोधक है अथवा शाखा विशेष का। चरक संहिता में कहीं गर्भ के अंगों का निर्माण करने वाले के रूप में प्रयुक्त हुआ है ता कही गुल्म चिकित्सक के रूप में।[2] इसी तरह धन्वन्तरि शब्द बहुवचनान्त प्रयुक्त होना शाखा विशेष का बोधक हो सकता है। इन विविध वर्णनों से यही स्पष्ट है कि धन्वन्तरि सर्वप्रथम शल्य चिकित्सक के रूप में विख्यात हुए, तत्पश्चात् जो इनके शिष्य प्रशिष्य हुए तो उनकी एक शाखा चल निकली और वह धन्वन्तरि नाम से विख्यात हुई।

आयुर्वेद की आद्यपरम्परा :-

आयुर्वेद की आद्यपरम्परा वैदिक काल से उपलब्ध होती है। वैदिक वांङ्मय ऐसा है जिसमें संसार का सम्पूर्ण ज्ञान निहित है। दुर्भाग्य की बात यह है कि आज जो वैदिक वांङ्मय उपलब्ध होता है वह अधूरा व अपूर्ण है। विदेशियों के आक्रमण व शासन में इस वाङ्मय को क्षत विक्षत कर विनष्ट कर दिया।

वैदिक वाङ्मय चार भागों में विभक्त है जो भूमिका में स्पष्ट किया जा चुका है संहिता ब्राह्मण, आरण्यक व संहितायें चार है-ऋक् संहिता आयुर्वेदसंहिता, सामवेद संहिता व अर्थवेद संहिता। वैसे तो सम्पूर्ण संहिताओं में आयुर्वेदीय सामग्रियाँ यत्र तत्र

1. च0सं0शा0 अ0 13
2. च0 सं0शा0 अ0 - 6

न्यूनाधिक्य में उपलब्ध होती है,परन्तु अथर्ववेद में सर्वाधिकरूप में उपलब्ध हैं। इसको संक्षिप्त रूप में इस प्रकार .. अभिव्यक्त किया जाता है।

ऋग्वेद व आयुर्वेद संहिता सहित्य व आयुर्वेद :-

चारों वैदिक संहिताओं में क्रमशः आयुर्वेद को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है अगर हम ऋग्वेद को ऐतिहासिक क्रम में भी देखे तो भी दुनियाँ का सर्वप्रथम ग्रन्थ माना जाता है। उस युग में भी आयुर्वेद अत्युन्नत रूप में उपलब्ध होता है। एक ऐसा सूक्त प्राप्त होता हैं जिसमें औषधियों का वर्णन मिलता है।[1] इसमें औषधियों का नाम व उनका वर्गीकरण मिलता है। अनके रोगोत्पादक क्रमियों वा विस का वर्णन भी ऋग्वेद में मिलता है।[2] आचार्य प्रियव्रत शर्मा का कथन है कि ऋग्वेद में इन्द्र के एक सफल चिकित्सक होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। इन्द्र ने अपाला के चर्मरोग व उसके खलित्य रोग का निवारण,अन्धे परावृज को दृष्टि प्रदान, पंगुकोण गति प्रदान किया।[3] सूर्य की किरणों द्वारा चिकित्सा के भी वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं।[4] त्रिदोष आयुर्वेद का एक महत्व पूर्ण सिद्धान्त है, का भी वर्णन ऋग्वेदमें प्राप्त होता है।[5] ऋग्वेद अश्विनीकुमारों का रूप, देवताओं के साथ सफल चिकित्सक रूप में मिलता है। वे सर्वदा युगल रूप में दृष्टि गोचर होते हैं। उनका युगल रूप के चिकित्सा के रूपों सिद्धान्त व व्यवहार पक्ष का प्रतीक माना जा रहा है। वे ऋग्वैदिक काल के एक सफल शल्य चिकित्सक थे। इनके चिकित्सका का उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है। उन्होने मधु विद्या की प्राप्ति का आथर्वण दधीचि के शिर को काट कर अश्व का सिर लगाकर मधु विद्या को प्राप्त किया और पुनः पहले का शिर लगा दिया।[6] वृद्धावस्था के कारण क्षीण शरीर वाले च्यवन ऋषि के चर्म को बदलकर

1. ऋ.वे. 10/97/1-23 मन्त्र
2. 10/163/1-6 मन्त्र
3. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - आचार्य प्रियक्रत शर्मा - पृ017
4. 1/50/11-13
5.1/34/6 एवं 4/7/28
6. वृ030 2/5/16-17

युवावस्था को प्राप्त कराना।[1] द्रौण में विश्यला का पैर कट जाने पर लोहे का पैर लगाना[2] नपुंसक पतिकली वध्रिमती को पुत्र प्राप्त कराना[3] अन्धे ऋज्राश्व को दृष्टि प्रदान कराना[4] बाधिर नार्षद को श्रवण शक्ति प्रदान करना,[5] सोमक को दीर्घायु प्रदान करना[6],वृद्धा एवं रोगी घोषा को तरुणी बनाना[7] प्रसव के आयोग्य गौ को प्रसव के योग्य बनाना[8] आदि ऐसे अनगिनत उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनसे आयुर्वेद का एक धनी स्वरूप देखने को मिलता है। ऐसा हम भारतीयों के लिए बड़ी गौरवास्पद बात होती है।

यजुर्वेद का आयुर्वेद :-

आयुर्वेदीय परम्परा ऋग्वेद के समान यजुर्वेद में भी प्राप्त होती है। विविध शारिरीक अवयवों का उल्लेख तत्कालीन शारीरावयवों के ज्ञान का द्योतक है।[9] यजुर्वेद के कुछ मन्त्रों में मन्त्रों द्वारा दृष्टि की प्राप्ति व यक्ष्मा नामक रोग के नाश का उल्लेख है।[10] मन्त्रों के माध्यम से जो चिकित्सा(रोगापहरण) की जाती है आयुर्वेद में उसे दैवव्यपाश्रय चिकित्सा के नाम से जाना जाता है।

अथर्व वेद व आयुर्वेद :-

अथर्ववेद में पर्याप्त रूपेण आयुर्वेद सम्बन्धी सामाग्रियाँ उपलब्ध होती हैं। ऋग्वेद आयुर्वेदीय तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म रूपेण विद्यमान थे, उन्होंने ही आकर अथर्ववेद में परिवृंहित रूप धारण कर लिए।

ज्वर को 'तक्मन' की संज्ञा सर्वप्रथम अथर्ववेद में प्राप्त होती है।[11] इस ज्वर

1. ऋ.वे. 1/116/10 एवं 1/117/3
2. ऋ.वे. 3/116/15
3. ऋ.वे. 3/116/13
4. ऋ.वे. 3/116/16
5. ऋ.वे. 3/117/18
6. ऋ.वे. 3/15/9-10
7. ऋ.वे. 3/117/7
8. ऋ.वे. 3/112/3
9. य0वे0 - 12/75/101, 19/81-93, 20/5-9, 25/1-9 आदि।
10. य0वे0 2/1/1/1 2/4/14/5
11. अ0वे0 6/21/103

के लक्षण व उसे दूर करने के विविध उपाय अथर्ववेद में उपलब्ध हैं। ग्रैष्मिक शारदीय,शैतादि के भेद भी अथर्व वेद में प्राप्त होते हैं।[1] त्रिदोष के सम्बन्ध में अथर्व वेद में उल्लेख है –''या एक मोजस्त्रेधाविचक्रमें[2] अर्थात् एक ओज जो जीवन का आधार है वे तीनों द्रत्यों अर्थात वात, पित्त व कफ द्वारा ही सम्भव है। गण्डमाला व उसके भेदोपभेदों का वर्णन अथर्ववेद में उपलब्ध होताहै।[3] बलास नामक रोग वर्णन अथर्ववेद में मिलता है, कहा गया है कि वह अस्थियों के लिए कष्टकारी है।[4] मूत्रावरोध होने पर शलाका द्वारा उसे बहिः निस्सारण का उल्लेख भी अथर्ववेद मे है।[5] फोड़े को साफ रखने के लिए जलधावन प्रक्रिया का भी उल्लेख प्राप्त होता है[6] सुखप्रसव के लिए योनि भेदन की क्रिया अथर्व में वर्णित है।[7] अपची वेधन[8] बहते हुए रक्त का बहना रोकने के लिए धमनी बन्धन का उल्ल्ेख अथर्ववेद में है।[9] एक आयुर्वेदीय मन्त्र में जठराग्नि[10] का उल्लेख प्राप्त होता है जो पाचन क्रिया में मुख्य है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में भकक्षत अन्न के अन्तिम रूप वीर्य का उल्लेख मिलता है।[11] जिससे सम्पूर्ण सृष्टि का संचालन होता है।

रोग व रोगों के प्रकार के विषय में भी अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है। इस विषय में कहा गया है कि रोगो का विभाजन दो प्रकार से किया जा सकता है-प्रथम श्रेणी में वे रोग आते है जो वातावरण का खान-पान से उत्पन्न होता है। इस श्रेणी के रोगो को शपथ्य रोग कहा जाता है। द्वितीय श्रेणी में वे रोग आते हैंजो प्राक्जन्मकृत कार्यो या किसी के शापादि से उत्पन्न होते हैं ऐसे रोगों को वरुण्य रोग कहा जाता है।[12] इसके अतिरिक्त अनेक रोगो के भी नाम उल्लिखित मिलते हैं जैसे

---

1. अ०वे० 1/25/4-5
2. अ०वे० - 1/24/1
3. अ०वे० - 6/83/1-3
4. अ०वे० - 6/14/1-3
5. अ०वे० - 1/19/3
6. अ०वे० - 5/57/1-3
7. अ०वे० - 1/11/1-6
8. अ०वे० - 7/74/1-2
9. अ०वे० - 1/17/1-3
10. अ०वे० - 12.1.19
11. पुंस वै रेतो भवति, तत् स्त्रियामनुषिच्यते। तदवै पुत्रस्थ वेदनम्। अ०वे० 6.11.2
12. अ०वे० - 6.98.2

–तक्मन् बलास,क्षय,गण्ड,माला आदि। इनरोगो के नाम व उन्हे दूर करने के उपाय अथर्ववेद में वर्णित है। रोगोत्पादक कृमियों के विषय में भी अनेक जगह चर्चायें है।[1] इसी प्रसंग में कहा गया है कि कृमियाँ अत्यन्त दुर्लक्ष्य भी होती है जिनकी क्षुल्लक संज्ञा है।[2]

रोगो का जो मुख्य रूपेण शपथ्य व वरुण्य द्विधा विभाजन है अथर्ववेद में इसी चिकित्सकों के विषय में भी पर्याप्त सामाग्रियाँ उपलब्ध होती है। शपथ्य रोगों की चिकित्सा युक्तिव्यपाश्रय रीति से बतलाई गई है जो आयुर्वेदीय चिकित्सा है तथा वरुण रोगों की चिकित्सा दैवव्यपाश्रय रीति से बतलाई गई है जो शुद्ध अथर्ववेदीय चिकित्सा है।[3] मणि, मन्त्र, औषधि, प्रायाश्चित, बलि आदि के माध्यम से अथर्ववेदीय चिकित्सा होती है कि आयुर्वेद में भूत विद्या के नाम से अष्टांगों में एक अंग है। यही चिकित्सा आज भी ताबीज,गण्डा,झाड,फूंक आदि के माध्यम से आज भी समाज में विद्यमान है।[4]

अथर्ववेद में रसायन महनीय विशिष्टताओं से संचालित किया गया है। रसायन के ही माध्यम से मनुष्य अजर व दीर्घायु हो सकता है। इस विषय में अथर्ववेद कहता है कि मनुष्य रसायन को जानकर उसका सेवन कर उपर्युक्त विशिष्टताओं को प्राप्त कर सकता है।[5]

प्राचीन काल में जनसंख्यां कम थी अतः जनसंख्या बढ़ाना लोगो का लक्ष्य था। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए'बाजीकरण' पर अथर्ववेद में विशेष बल दिया गया है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत सन्तानोत्पत्ति के कामशक्ति को बढ़ाने के उद्देश्य से अथर्ववेद में 'शेषहर्षणी' नामक औषधि का सेवन[6] व शिश्न बृद्धि के लिए निर्देश दिये

1. अ0वे0 – 2/31-32 एवं 5.23 आदि।
2. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास– आचार्य प्रियव्रत शर्मा, पृ023
3. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास– आचार्य प्रियव्रत शर्मा, पृ024
4. आयुर्वेद का इतिहास– विद्यालंकार, पृ0186
5. अथर्ववेद – 3.6.11, 19.60.21, 20.96.10 आदि
6. अ.वे. 4.4.1-8

गये है।[1] आज के युग के लिए उपयुक्त नसबन्दी जैसे उपायों के लिए भी अथर्ववेद में पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं जैसे शुक्रवहन करने वालील नाड़ी को काटकर उसे वीर्य विहीन करने की क्रिया।[2]

ब्राह्मण साहित्य व आयुर्वेद :-

संहिताओं के व्याख्यापरक ग्रन्थ ब्राह्मण है। संहिताओं में आयुर्वेदीय सामग्रीयाँ उपलब्ध थह को ब्राह्मणों में उनका वर्णन स्वभाविक है। अनावश्यक विषय प्रसार को ध्यान में रखते हुये अति संक्षिप्त रूपेण अध्ययन हम इस प्रकार कर सकते हैं-

नेत्रों के रोगों को दूर करने के उद्देश्य से ऐतरेय ब्राह्मण में अंजन के माध्यम से उनकी चिकित्सा वर्णित है।[3] इसी ब्राह्मण में शाप के द्वारा कुष्ठ व उन्माद आदि रोगों की उत्पत्ति निर्देशित की गई है।[4] ब्राह्मण में रोगों के प्रतिकार के परिपेक्ष्य में औषधियों की शक्ति का भी उल्लिखित किया गया है।[5] दो ऋतुओं के सन्धिकाल में होने वाले रोगों के विषय में उल्लेख गोपथ ब्राह्मण में किया गया है।[6]

उपनिषद् साहित्य व आयुर्वेद -

यद्यपि उपनिषदों के विषय आध्यात्मिक है फिर भी इनमें आयुर्वेदिक तथ्य यत्र तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में दीर्घायु प्राप्ति से सम्बन्धित तथ्य दृष्टिगत होता है।[7] हृदयस्थ नाड़ियों का भी वर्णन एक जगह उपलब्ध होता है।[8] मधुविद्य[9] खाये गये अन्न का रस एवं मल के रूप में परिवर्तित होना[10] पायारोगवर्णन[11] इत्यादि वर्णित तथ्य आयु वैदिक सामाग्रियो के ही द्योतक हैं। हृदय का वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् में बड़े ही अच्छे ढंग से किया गया है।[12] इसी उपनिषद् का शारीर

1. अ0वे0 - 6.7.3 तथा 6.101.2
2. अ0वे0-6.138.4
3. ऐ0ब्रा0 1.3
4. आयुर्वेद का इतिहास-अत्रिदेव विद्यालंकार पृ0 15
5. ऐ0ब्रा0 3.40
6. गो0ब्रा0 - 3.1.19
7. छा0उ0 - 3.16
8. छा0उ0 - 8.1.16
9. छा0उ0- 5.17
10. छा0उ06.5
11. छा0उ0- 4.1.8
12. बृ0उ0 - 2.1.19

विज्ञान वर्णन[1] बड़ा ही उपादेय है। नेत्र रचना का वर्णन भी इसकी वैज्ञानिकता को द्योतित करता है।[2]

गृह्यसूत्र व आयुर्वेद-

प्रसंगतः प्राप्त गृह्यसूत्रों का भी यहाँ सक्षिप्ततः वर्णन नितान्त अपेक्षणीय है। अथर्ववेद का एक मात्र गृह्यसूत्र कौशिकगृह्यसूत्र वैद्यनाथ शास्त्र एवं औषधियों के वर्णन की दृष्टि से नितान्त उपादेय है।[3] कौशिकगृह्यसूत्रकार ने उन उन मंत्रों का विनियोग दिखलाते हुये चतुर्थ अध्याय में 'अथ भैषज्यानि' से प्रारम्भ करके उस रोग के प्रतिकार के लिए उन-उन मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित जल व औषधि आदि का देना,हवन एवं मार्जन आदि उपाय बतलाये गये हैं। इसके अतिरिक्त रक्त बहने तथा स्त्रियों की अतिरजाः वृत्ति में सूखे कीचड को घोलकर पिलाना हृदय रोग कमला रोग में हरिद्रा खिलाना, वातविकार में पिप्पली का सेवन,चोट के कारण रक्त प्रवाह होने पर लाख से पकाये गये। पानी द्वारा सिंचन,राजयक्ष्मा,कुष्ठ व शिरोरोग में मक्खन से कूठ मिला कर मालिश करना,शस्त्र की चोंट में बनाये गये दूध में लाक्षा डालकर पिलाना,गण्डमाला में शंख का लेप, तथा जलौका का उपयोग, मलमूत्र रुक जाने पर हरीतकी को बाधना आदि वर्णन प्राप्न्त होते हैं।[4]

गोमिलगृत्थसूत्र में सभी प्रकार के रोगों की चिकित्सार्थ मन्त्र उलिलखित हैं[5] खदिरगृह्यसूत्र में रोगोत्पादक क्रिमियों का वर्णन उपलब्ध होता है।[6] ऋग्वेदीय आश्वलायन गृह्यसूत्र में भी पशुओं के रोगों के चिकित्सार्थ अनेक तरीकों का वर्णन उपलब्ध होते हैं।[7]

---

1. बृ०उ० - 2.4.11 *2. बृ०उ०-2.2.3*
3. वैदिक साहित्य और संस्कृति - आचार्य बल्देव उपादेय - पृ० 325
4. आयुर्वेद का इतिहास - अत्रिदेव विद्यालंकार - पृ० 19-20
5. गो०गृ०सू०- 4/6/2
6. खा०गृ०सू०-4/8/40
7. आ०गृ० 4/8

प्रमुख आयुर्वेदीय ग्रन्थ :-

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कारों का आयुर्वेदीय अध्ययन करने के लिए आयुर्वेदिक ग्रन्थों का उद्धरण देना आवश्यक होगा। इस लिए उनका संक्षिप्त परिचय अत्यावश्यक है। किसी भी साहित्य के वैभव का मूल्यांकन उसके ग्रन्थों पर निर्भर करता है आयुर्वेद में भी पर्याप्त ग्रन्थ है जो अष्टांगो पर प्रकाश डालते हैं, जिनका परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है।

चरक संहिता :-

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में ख्यातिलभ्य यह संहिता है। यह काय-चिकित्सा का ग्रन्थ है। इस संहिता का वर्तमान स्वरूप अनेक परिवर्तनों के बाद प्राप्त हुआ है। चरक संहिता के अनुसार आयुर्वेद को देवलोक के पश्चात् इस लोक में सर्वप्रथम भरद्वाज ने प्राप्त किया। भरद्वाज ने इस ज्ञान को इन्द्र से प्राप्त किया। इन्द्र ने अश्विनीकुमारों से अश्विनी कुमारों ने प्रजापति से प्रजापति ने ब्राह्मा से इसे ज्ञान को प्राप्त किया। ब्रह्मा ही इस ज्ञान के आद्य आचार्य है।

भरद्वाज से ज्ञान प्राप्त कर पुनर्वसु आत्रेय ने अपने छः शिष्यों को आयुर्वेद को ज्ञान प्राप्त कराया, ये छः शिष्य है, अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत् और क्षारपाणि। इन शिष्यों ने अपने अलग-अलग तन्त्र बनाये। सर्वप्रथम' अग्निवेश तंन्त्र' ही उपलब्ध होता है। इसी अग्निवेश तन्त्र को प्रति संस्कारित करके आचार्य चरक ने चरक-संहिता का प्रणयन किया। चरक संहिता का अन्तिम भाग जो अपूर्ण रह गया था दृढ़बल ने पूर्ण किया। चरक संहिता में कुल आठ अध्याय हैं जिनका एक संक्षिप्त रूप इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है[1] -

1- सूत्रस्थान 30 अध्याय

1. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - आचार्य प्रियव्रत शर्मा - पृ0 127

2-	निदान स्थान	08 अध्याय
3-	विमान स्थान	08 अध्याय
4-	शरीर स्थान	08 अध्याय
5-	इन्द्रिय स्थान	12 अध्याय
6-	चिकित्सा स्थान	30 अध्याय
7-	कल्प स्थान	12 अध्याय
8-	सिद्धिस्थान	12 अध्याय
		120 अध्याय

१- सूत्र स्थान :-

सूत्रस्थान में हेतु ,लिंग और औषधियों के रूप में सम्पूर्ण आयुर्वेद का कथन है। सूत्र स्थान में कुल तीस अध्याय है, जिनमें अग्रिम अट्ठाइस अध्यायों में वर्णित विषय चतुष्कों में विभक्त हैं। चतुष्क चार-चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम चतुष्क ाके औषधचतुष्क कहतें हैं। द्वितीय को स्वास्थ्य चतुष्क,तृतीय को निर्देश चतुष्क,चतुर्थ को कल्पना चतुष्क पंचम को रोग चतुष्क षष्ठ को योजनाचतष्क एवम सप्तम् को अन्नपान चतुष्क कहतें हैं। इस सूत्र स्थान के अन्तिम दो अध्यायों मं वैद्यों के गुणों का निर्देशन किया गया है।

२- निदान स्थान :-

इस स्थान में प्रमुख रोगों के वर्णन हैं। यह स्थान चरक संहिता को विशिष्ट महत्ता प्राप्त करता है।

३- विमान स्थान :-

इस स्थान में रोगों के प्रतिकार के लिए आषधियों का वर्णन किया गया है।

४.शरीर स्थान :-

इस स्थान में पंचम महाभूतों व चेतना के संश्लेष से पुरुष की उत्पत्ति,ईश्वर व प्रकृति इत्यादि के वर्णन है।

५. इन्द्रिय स्थान :-

यह स्थान इन्द्रियों के लक्षण के द्वारा रोगो की सहायता व असाध्यता ज्ञान का वर्णन है।

६. चिकित्सा स्थान :-

इस स्थान में सन्तानोत्पत्ति के लिए बाजीकरण व विविध रसायनों का वर्णन है।

७. कल्पना स्थान :-

इस स्थान में वमन व विरेचन कराने के द्रव्यों का उल्लेख एवं उन द्रव्यों की विविधि कल्पनाओं के वर्णन हैं।

८. सिद्धि स्थान :-

इस स्थान में वमन एवं विरेचन के लिए अनुचित द्रव्यों के प्रयोग से उत्पन्न होने वाली व्याधियों की चिकित्साओं के वर्णन प्राप्त होते हैं।

चरक संहिता का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इस संहिता के तीन स्तर है 57 पुनर्वसु, आत्रेय से सुनकर तन्त्र का निर्माण किया अग्निवेश ने, उस पर भाष्य लिखा चरक ने और उसका प्रति संस्कार किया दृढ़बल ने। अतः इन आचार्यो कर संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है:-

पुनर्वसु आत्रेय :-

जैसा कि नाम्ना स्पष्ट है कि या तो ये अत्रि गोत्र में उत्पन्न हुए होगें अथवा अत्रि के पुत्र होगें। इस विषय में विधाओं में बड़ा मतभेद है। काश्यप संहिता[1] का

1. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - आचार्य प्रियव्रत शर्मा - पृ0 61

कहना है कि अत्रि से स्वयम् इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करके अपने पुत्रों व शिष्यों को प्रदान किया। इस लिए पुनर्वसु आत्रेय इन्ही अत्रि से सम्बन्धित हो सकते हैं। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में आत्रेय शब्द अनेक विशेषणों से युक्त होता, प्राप्त होता। जैसे पुनर्वसु, आत्रेय, भिक्षु आत्रेय व कृष्णात्रेय। हो सकता है कृष्णात्रेय शब्द सम्प्रदाय विशेष में पुनर्वसु आत्रेय के लिए ही हुआ होगा।[1] शिक्षु आत्रेय अत्रि गोत्र मे उत्पन्न कोई बौद्ध भिक्षु रहा होगा।[2]

अग्निवेश :-

पुनर्वसु आत्रेय में षड् शिष्यों में अग्निवेश एक व अप्रितिम थे। इन्होने 'अग्निवेश तन्त्र' का निर्माण किया।'अग्निवेशतन्त्र' सूत्रात्मक ग्रन्थ है। इसी ग्रन्थ का प्रति संस्कार आचार्य चरक ने किया। अतः चरक संहिता का प्राचीन रूप अग्निवश तन्त्र ही है,जिसकी भाषा शैली देशकाल, त्रिदोष सिद्धान्त चौबीस तत्व,षोड्शकला पुरुष,परलोक सदप्रद की मान्यता आदि उपनिषद् कालीन प्रतीत होतीहै। इस लिए विद्वानो ने इसका समय 1000ई0पू0 माना है।[3]

चरक :- चरक व्यक्ति विशेष की संज्ञा है अथवा सम्प्रदाय विशेष की- इस विषय में विद्वानों में मतभेद दृष्टिगत होता है। कुछ लोग चरक को कृष्णयजुर्वेद की शाखा से सम्बनिधत मानते है।[4] कुछ विद्वान् चरक का अर्थ परिव्राच्क या भ्रमणशील करते हैं।[5] कुछ लोग चरक को शेषनाग का अवतार मानते है।[6] आचार्य पाणिनि के अष्टाध्यायी में भी चरक शब्द का प्रयोग किया गया है।[7] इससे स्पष्ट है कि चरक पाणिनि से पूर्व के है। अतः चरक का काल द्वितीय या तृतीय सदी ई0पू0 माना जा सकता है।[8]

---

1. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - आचार्य प्रियव्रत शर्मा - पृ0 91
2. उपर्युक्त 3. वही पृ0 100 4. काशिका - 4.3.102
5. आयुर्वेद का इतिहास - अत्रिदेव विद्यालंकार - पृ0 84
6. भाव प्रकाश - पूर्वखण्ड - 1.60-65
7. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - 5.3.14 एवं 4.3.109
8. वही पृ0 127

दृढ़बल :-

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, कि दृढ़बल चरक संहिता के अंतिम प्रतिसंस्कर्त्ता थे। इन्होने चरक संहिता के अन्तिम भागों -चिकित्सा चिकित्सा स्थान के 17 अध्याय, सम्पूर्णकल्प स्थान-12 अध्याय तथा सिद्धि स्थान 12 अध्याय को पूर्ण किया। इस प्रकार चरक संहिता के 120 अध्यायों में से 41 अध्याय तो दृढ़बल के ही हैं। कपिबल इनके पिता का नाम था। इनका निवास स्थान पंचनदपुर था। विषमज्वर से मुक्ति के लिए विष्णुसहस्रनाम का पाठ् का प्रयोग, मद्यपान की परम्परा एवं जलयन्त्रों का प्रयोगों ने सिद्धि किया है कि ये गुप्तकाल के थे। इस प्रकार इनका काल चतुर्थशतग्री माना जाता है।

प्राचीनकालीन टीकायें :-

सातवीं व आठवीं शताब्दी में चरक संहिता पर अनेक टीकायें व व्याख्याये लिखी गई है, जैसे भट्टार हरिश्चन्द्र भी चरकन्यास नामक ब्याख्या,स्वामिकुमार की चरक पंजिका नामक व्याख्या, आषाढ़ वर्षा की परिहारवर्तिका नामक टीका पतञ्जलि की चरक कार्तिक,क्षीरस्वामी की चरकवार्तिक नामक टीकायें अत्यन्त प्रसिद्ध है। हिमदत्त शिवसैन्धव,वैष्णव चेतलदेव,नन्दी आदि विद्वानों ने चरक संहिता पर टीकायें इसी काल में लिखी है।

मध्यकालीन टीकायें :-

मध्यकाल अर्थात् नवीं से सोलहवी शताब्दी में अनेक विद्वानों ने अपनी व्याख्यायेव टीकायें चरक संहिता पर लिखी है जैसे - जैज्जट ,सुधीर,अमितप्रभ,भद्रवर्मा भासदत्त ब्रह्मादेव,ईश्वरसेन,भीमदत्त,अंगिरि,श्रीकृष्णवैद्यं चक्रपाणिदत्त गुणाकर, ईशनदेव, नागदेव, मैत्रेय, जिनदास, भव्यदत्त व कुलकर आदि ।

आधुनिक काल की टीकायें :-

सत्रहवीं शताब्दी से लेकर आज तक का काल आधुनिक काल में माना जाता

है इस काल में चरक सहिता पर व्याख्यात्मक कार्य इस प्रकार हैं- गंगाधरराय की जल्पतरुव्याख्या, कविराज की चरक तत्त्व प्रकाश कौस्तुभ नामक टीका योगीन्द्रनाथसेन की चरकोपस्कार नामक व्याख्या,ज्योतिष चन्द्रसेन स्वामी की चरक प्रदीपिका नामक टीका। इसके अतिरिक्त रामप्रसाद शर्मा,अत्रिदेव विद्यालंकार,जयदेव विद्यालंकार,काशीराम शास्त्री आदि विद्वानों की हिन्दी टीकायें भी विशेष महत्वपूर्ण हैं।

सुश्रुत - संहिता :-

जैसा काय-चिकित्सा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ चरक संहिता है,उसी प्रकार शल्यतंन्त्र का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ सुश्रुत संहिता है। आयुर्वेद के इतिहास विशेषज्ञों में सुश्रुत संहिता के उपदेष्टा के विषय में दो मत दृष्टिगत होते हैं। प्रथम मत के अनुसार आचार्य धन्वन्तरि ही इसके उपदेष्टा है तो द्वितीय मत के अनुसार काशीराज दिवोदास इसके उपदेष्टा है। काशीराज दिवोदास के समर्थकों की संख्या अधिक है। उपदेशों को सुनकर ग्रन्थ रूप में परिणित करने वाले आचार्य सुश्रुत ही हैं नागार्जुन इसके प्रतिसंस्कर्ता हैं। इनका परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है।

धन्वन्तरि :-

पुराणों में धन्वन्तरि का उल्लेख प्राप्त होता है। एक पौराणिक जनश्रुति के अनुसार समुद्रमन्थन से निकले हुए चौदह रत्नो में से धन्वन्तरि एक है। वायुपुराण[1] व हरिवंशपुराण[2] इसके उदाहरण स्वरूप है धन्वन्तरि शल्य क्रिया में निष्णात थे। वे विषापहरण के भी अच्दे ज्ञाता थे। वे शिव के उपासक व वरुण के शिष्य थे।

दिवोदास :-

इन्हे धन्वन्तरि द्वितीय भी कहा जाता है। इनका पूरा नाम काशीराज दिवोदास है। इनके सम्प्रदाय को धन्वन्तरि सम्प्रदाय भी कहा जाता है। आयुर्वेद के क्षेत्र में इनका महान योगदान है। इनके शिष्यों में सुश्रुत औपधनेव, पौष्ठकलावर्त, औरभ्र,

1. उत्तरकाण्ड अ0 30
2. पर्व - 1 अ. 29

वैतरण करवीर्य, गोपुराक्षितनिमि, गालब, गार्ग्य, कांकायन आदि प्रमुख है।

सुश्रुत :-

काशिराज दिवोदास के उपदेशों को क्रमवद्ध रूप प्रदान करने वाले आचार्य सुश्रुत हैं। सुश्रुत संहिता का नामकरण इन्ही के नाम के कारण है। इनको विश्वामित्र का पुत्र कहा गया है।[1] सुश्रुत नाम से दो व्यक्तियों का बोध होता है। वृद्धसुश्रुत और सुश्रुत। इस विषय में आचार्य प्रियवृत शर्मा का कहना है कि दिवोदास के शिष्य वृद्धसुश्रुत थे। इन्होने मूल सौश्रुततन्त्र की रचना की। सम्भवतः यह अग्निवेश तन्त्र के पूर्व की रचना थी। इसके बाद सुश्रुत ने उसे प्रतिसंस्कृत कर नया रूप प्रदान किया।[2] इनका काल द्वितीय शताब्दी माना जाता है।[3]

नागार्जुन :-

आचार्य प्रियवृत शर्मा ने नागार्जुन को सुश्रुत संहिता का प्रति संस्कर्ता एवं गुप्तकालीन माना है।[4] नागार्जुन के नाम के अनेक विद्वान हुए। 'उपायहृदय' नामक ग्रन्थ के रचयिता नागार्जुन हुए जो प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी मे हुए। बौद्धों के तेरहवें धर्माध्यक्ष भी नगार्जुन थे जिनका काल द्वितीय या तृतीय शताब्दी था। अलबरूनी ने एक नागार्जुन का उल्लेख दिया । जिनका काल दशम् शताब्दी था। चतुर्थ अथवा पंचम शताब्दी में अर्थात् गुप्तकाल में एक नागार्जुन हुए थे। अष्टम् शताब्दी में भी एक नागार्जुन हुए।

चन्द्रट :-

तीसयाचार्य के पुत्र चन्द्रटनाम से उत्पन्न हुए। सुश्रुत संहिता की एक टीका जेज्जट के नाम से जानी जाती है। इसी टीका के आधार पर चन्द्रट ने सुश्रुत संहिता के पाठों को शुद्ध किया ।

1. महाभारत अनुशासन पर्व अ० 4
2. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - पृ० 60
3. वही पृ० 64
4. वही पृ० 60

सम्पूर्ण सुश्रुत संहिता पाँच स्थानों तथाएक सौ बीस अध्यायों में विभक्त है-

1.	सूत्रस्थान	46 अध्याय
2.	निदान स्थान	16 अध्याय
3.	शरीर स्थान	10 अध्याय
4.	चिकित्सा स्थान	40अध्याय
5.	कल्पस्थान	08 अध्याय
		120 अध्याय

सूत्र स्थान में चिकित्सा के मूल सिद्धान्तो एवं शल्यक्रिया के लिए उपयोगी उपकरणों, द्रव्यगुण आदि के विषय में संक्षिप्त वर्णन है।

निदान स्थान में शल्यक्रिया से सम्बन्ध रखने वाले रोगों ,शूक अर्श, अश्मरी आदि रोगों के वर्णन हैं।

शरीरस्थान में सृष्टिप्रक्रिया, गर्भोत्पत्ति प्रसवोत्तरकालीन कर्मो आदि के बडे सुन्दर व स्पष्ट रुप में किये गये है।

चिकित्सास्थान में शल्य चिकित्सा,वाजीकरण,पंचकर्म एवं रसायनादि के वर्णन बडे सुन्दर ढंग से किए गये हैं।

अन्तिम कल्पस्थान में विष चिकित्सा का वर्णन बड़ा ही वैज्ञानिक हैं

इस ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट में उत्तरतन्त्र को संयुक्त किया गया है। इस उत्तरतन्त्र में कुल 66 अध्याय हैं जिनमें काय चिकित्सा, शाकल्य एवं कौमारभृत्यादि के वर्णन हैं।

टीकायें :-

सुश्रुत संहिता पर प्राचीनकाल अर्थात् 7 वीं से 8वीं शताब्दी में वराह, नन्दी,सुवीरादि विद्वानों ने अपनी अपनी -टीकायें लिखी। मध्यकाल अर्थात् 9वीं से सोलहवीं शताब्दी के मध्य में सुधीर, जेज्जट, सुकीर, माधव, चनुट, ब्रह्मदेव, वाष्यचन्द्र,

गयदास, चक्रपाणिदत्त, वंगदत्त, कार्तिकुण्ड, डल्हण, गदाधर, रामदेव आदि विद्वानों ने सुश्रुत संहिता पर अपनी -अपनी टीकयें लिखी हैं। आधुनिक काल अर्थात 19वीं सदी से आज तक में अत्रिदेव विद्यालंकार,हाराणचन्द्र चक्रवर्ती भास्कर, गोविन्द घाणेकर आदि विद्वानों के सुश्रुत संहिता के अर्थात बोध पर अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं।

भेल संहिता :-

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इस संहिता के लेखक आचार्य भेल हैं। ये महार्षि भेल पुनर्वसु आत्रेय के शिष्य थे। इस ग्रन्थ में लेखक ने अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है। वागीश्वर शुक्ल ने भेल का काल 2500 वि0पू0 माना है।[1] आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने इनका काल 1000ई0पू0 मानाहै।[2] इस संहिता का प्राचार प्रसार पर्याप्त रूपेण नहीं था।

भेलसंहिता की विषय वस्तु चरक संहिता के ही समान है। दोनो के अध्याय एक बराबर हैं। किन्ही-किन्ही स्थानों में अध्यायों की संख्या एक समान नहीं है, जिन्हे इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है-[3]

		वर्तमान ग्रन्थ में
1-सूत्रस्थान	30अध्याय	4-28 अध्याय
2-निदानस्थान	08 अध्याय	2-8 अध्याय
3-विमानस्थान	08अध्याय	1-8 अध्याय
4-शारीरस्थान	08अध्याय	2-8 अध्याय
5-इन्द्रिय स्थान	12अध्याय	1-12अध्याय
6-चिकित्सास्थान	30 अध्याय	1-30अध्याय
7-कल्पस्थान	12अध्याय	1-9अध्याय
8-सिद्धिस्थान	12 अध्याय	1-8अध्याय
	120 अध्याय	

1. *आयुर्वेद का इतिहास- कविराज श्री वाणीश्वर शुक्ल, पृ0 59*
2. *आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - आचार्य प्रियव्रत शर्मा - पृ0 127*
3. *वही पृ0 125*

हारीत संहिता :-

चरक संहिता प्रकरण में यह तथ्य सामने आया था कि पुनर्वसु आत्रेय के छः शिष्यों में से हारीत एक थे। इसी महर्षि हारीतकी संहिता का नाम है हारीत संहिता। कुछ विद्वानों की यह अवधारणा है कि वर्तमान में उपलब्ध हारीत संहिता प्राचीन कालीन हारीत संहिता से भिन्न है। वर्तमान में उपलब्ध हारीत संहिता प्रथम स्थान के द्वितीय अध्याय की पुष्पिका में जो उल्लेख हैं उसके आधार पर इसे 'वैद्यक सर्वस्व' कहना ही उचित है।[1] इस ग्रन्थ का प्रकाशन 1889 में कलकत्ता से हुआ था।[2] हारीत संहिता की विषयवस्तु को इस प्रकार अभिव्क्त किया जा सकता है।[3]

1. प्रथम स्थान(अन्नपान)	23 अध्याय
2. द्वितीय स्थान(अरिष्ट)	09 अध्याय
3. तृतीय स्थान(चिकित्सा)	58 अध्याय
4. चतुर्थ स्थान(कल्प)	06 अध्याय
5. पंन्चमं स्थान(सूत्र)	05 अध्याय
6. षष्ठ अध्याय(शारीर)	01 अध्याय
7. परिशिष्टाध्याय	01 अध्याय
	103 अध्याय

काश्यप-संहिता :-

इस संहिता का नाम' वृद्धजीवक तंत्र भी है इसके उपदेश कर्त्ता कश्यप है। वृहजीवक तंत्र ने उन उपदेशों को एकत्रित कर ग्रन्थ रूप प्रदान किया। इस संहिता का काल छठी शताब्दी ई0पू0 माना जाता है।[4] शल्यक्रिया के विशेषज्ञ जीवक से भिन्न प्रदर्शित करने के लिए इस संहिताकार के नाम के पहले वृद्ध शब्द को जोड़ा

1. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - आचार्य प्रियव्रत शर्मा - पृ0 131
2. वही पृ0 137
3. वही पृ0 132
4. वही पृ0 163

गया है। जीवक किसी ग्रन्थ के रचनाकार नहीं थे। छठी या सातवीं में वात्स्य ने इसे प्रतिसंस्कार किया। इस संहिता में कुल 8 स्थान एवं 120 अध्याय हैं, खिल स्थान 80 अध्यायों में विभक्त है।[1]

1. सूत्र स्थान	30 अध्याय
2. निदानस्थान	08 अध्याय
3. विमान स्थान	08 अध्याय
4. शारीर स्थान	08 अध्याय
5. इन्द्रिय स्थान	12 अध्याय
6. चिकित्सास्थान	30 अध्याय
7. सिद्धिस्थान	22अध्याय
8. कल्प स्थान	12अध्याय
	120 अध्याय
खिलस्थान	80 अध्याय

अष्टांग संग्रह :-

अष्टांग संग्रह आयुर्वेदीय ग्रन्थों में प्रथम महत्त्व पूर्ण है। इसके रचयिता वागभट्ट अथवा वृद्धवागभट्ट थे। इनका आर्विभाव काल 550 ई0 के आस पास माना जाता है।[2] इस ग्रन्थ के पूर्व की यह परम्परा थी कि कोइ भी ग्रन्थ आयुर्वेद के किसी न किसी अंग से ही सम्बन्धित होता था, लेकिन इस ग्रन्थ में आयुर्वेद के सभी अंगो के ऊपर विचार किया गया है । इस ग्रन्थ के विषयवस्तु को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है।–[3]

1. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास – आचार्य प्रियव्रत शर्मा – पृ0 142
2. वही पृ0 181
3. वही पृ0 181–182

क्र0	स्थान	अध्याय	विद्यावस्तु
1-	सूत्रस्थान	40	अध्याय स्वस्थवृत्त,द्रव्यगुण,दोष,धातुमल रोग, चिकित्सा विधियाँ आदि
2-	शारीर स्थल	12 अध्याय	शरीर विज्ञान व अरिष्ट विज्ञान के वर्णन
3-	निदान स्थल	16 अध्याय	रोग व निदान वर्णन
4-	चिकित्सा स्थान	24 अध्याय	काय-चिकित्सा के वर्णन
5-	कल्प स्थान	08 अध्याय	पंचकर्म व परिभाषा के वर्णन
6-	उत्तर स्थान	50 अध्याय	कौमार्य भृत्य,भूतविद्या, मानसरोग, शालाक्य, शल्य, क्षुद्र रोग, गुह्यरोग,अगद तंत्र रसायन व बाजीकरण आदि।

टीकायें :-

तेरहवीं शताब्दी के इन्दु की 'शशिलेखा' नामक टीका अष्टांगसंग्रह की महत्व पूर्ण टीका है। बीसवी शताब्दी में अत्रिदेव विद्यालंकार जी ने एक टीका हिन्दी मे लिखी जो ज्यादा प्रसिद्ध है। इन विद्वानों के अतिरिक्त लालचन्द्र वैद्य ने हिन्दी में ही एक विवेचनात्मक व्याख्या लिखी। अभी हाल में ही पक्षधर झाँ की शारीर स्थान पर लिखी हिन्दी टीका प्रकाशित हुई है।

अष्टांग हृदय :-

वागृभट्ट द्वितीय कीकृति अष्टांग हृदय है जिनका काल सातवीं शताब्दी का प्रथम चरण है।[1] अष्टांग हृदय में अष्टांग संग्रह का अधिकांश अनुसरण है। कहीं-कहीं भेद दृष्टिगोचर होता है। अष्टांग हृदय में चरक और सुश्रुता से सीधा सम्बन्ध जोड़ा गया है। अष्टांग संग्रह में गद्य-पद्य मिश्रित है,लेकिन हृदय में केवल पद्यों का सन्निवेश है। अष्टांग संग्रह के विषय वस्तु को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है-[2]

1. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - आचार्य प्रियव्रत शर्मा - पृ0 188

2. वही0 पृ0 188

1. सूत्र स्थान	30 अध्याय
2. शारीर स्थान	06 अध्याय
3. निदान स्थान	16 अध्याय
4. चिकित्सा स्थान	22 अध्याय
5. कल्प स्थान	06 अध्याय
6. उत्तर स्थान	40 अध्याय
योग	120 अध्याय

टीकायें :-

ग्रन्थकार ने अध्यायों को कम करके ग्रन्थ को संक्षिप्त एवम सुबोध बना दिया है। फिर भी इस पर टीका में लिखी गई। हरिशास्त्री पराड़कर ने कुछटीकाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है।[1]

अरुणदत्त-सर्वांग सुन्दरा, हेमाद्रि-आयुर्वेद रसायन, चन्द्रनन्द-पदार्थ चन्द्रिका, इन्दु-शशिलेखा अथवा इन्दुमती, आशाधर-अष्टांग हृदयोद्घात, वैद्यतोदरमल्ल कान्हप्रभु मनोज्ञ या चिन्तामणि, रामनाथ- अष्टांग हृदय टीका। इनके अतिरिक्त अत्रिदेव गुप्त व लालचन्द्र वैद्य की हिन्दी टीकायें भी इस ग्रन्थ पर उपलब्ध हैं।

योग शतक :-

इस ग्रन्थ के रचयिता नागार्जुन नाम से प्रसिद्ध हैं, लेकिन इस नाम के अनेक विद्वान हुए। इस ग्रन्थ का सम्बन्ध किस नागार्जुनसे है अनेक अभिमतहैं-

पाँचवी या छठीं शताब्दी के सुश्रुत-संहिता के प्रति संस्कर्त्ता नागार्जुन का सम्बन्ध'योगशतक' से है ऐसा कुछ विद्वान मानतेहैं। आठवीं या नवीं शताब्दी के नगार्जुन का सम्बन्ध इस ग्रन्थ है ऐसा विदेशी विद्वान अलबरुनी मानता है।[2]

1. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - आचार्य प्रियव्रत शर्मा - पृ0 191

2. वही पृ0 195

टीकायें :-

योग शतक पर महीधर की विश्वबल्लभ,ध्रुवपाद की चन्द्रकला सनातक की बल्लभ नामक की टीकायें उपलब्ध हैं जो इस ग्रन्थ के अर्थावबोध में सहायक हैं।

शांङ्र्गधर-संहिता :-

जैसा कि इस ग्रन्थ के नाम से ही प्रसिद्ध है इस ग्रन्थ के लेखक शांङ्र्गधर हैं। इनके भी अविर्भाव को लेकर विद्वान् एकमत नहीं हैं। आयुर्वेद का एक ग्रन्थ शांङ्र्गधर-पद्धति है कुछ विद्वान इसके व शांङ्र्गर्धर संहिता के लेखक एक ही विद्वानको मानते है, जिनके आधार पर इनका काल चौदहवीं शताब्दी माना जाता है। इनदोनो ग्रन्थों की विषयवस्तु में पर्याप्त अन्तर है। पद्धति के लेखक के आयुर्वेदज्ञ होने का भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। पद्धति पर वामदेव की एक टीका उपलब्ध है जिससे सिद्धहोता है कि पद्धति तेरहवीं शताब्दी में पूर्वाद्ध की रचना हैं।[1]

संहिता की विषय वस्तु को तीन खण्डें में इस प्रकार विभक्त किया जा सकता है[2]

पूर्वखण्ड :-

1. परिभाषा
2. भैषज्यारव्य मानक
3. नाड़ी परीक्षदिविध
4. दीपन पाचन
5. कालादि का ख्यान
6. आहारादि गति
7. रोगगणना

---

1. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - आचार्य प्रियव्रत शर्मा - पृ0 198
2. वही, पृ0 199

मध्यखण्ड :-

1. श्वरस
2. क्वाथ
3. फाण्ट
4. हिम
5. कल्क
6. चूर्ण
7. गुटिका
8. लेह
9. स्नेह
10. सन्धान
11. धातुबोधन
12. रस

उत्तरखण्ड :-

1. स्नेह पान
2. स्वेदविधि
3. वमन
4. विरेचन
5. स्नेहवस्ति
6. निरूहरण
7. उत्तरवस्ति
8. नस्यविधि
9. धूम्रपान

10. मण्डूवादिविधि

11. लेपादिविधि

12. शोणितहवस्त्रुति

13. नेत्रकर्म

टीकायें :-

शार्ङ्धर संहिता पर बोप्देव की प्रकाश व्याख्या,आढमल्ल की दीपिका, काशीराम वैद्य की गूढार्थ दीपिका व्याख्या रुद्रभट्ट की आयुर्वेद दीपिका या गूढान्तदीपिका टीकायें उपलब्ध होती हैं।

कल्याण कारण :-

नवीं शताब्दी में जैन विद्वान उग्रदित्याचार्य कीयह रचना आयुर्वेद की आठों अंको पर पकाश डालती है। मूलग्रन्थ बीस परिच्छेदों का उत्तरतंत्र पांच परिच्छेदों का एवं परिशिष्टाध्याय दो परिच्छेदों मे है।

भाव प्रकाश :-

प्राचीन एवं नवीन मान्यताओं को अपने भीतर समाहित करने वाला सोलहवीं शताब्दी[1] का यह ग्रन्थ आयुर्वेद के लघुत्रयी में एक औंर अन्तिम है। इसके लेखक भाव मिश्र हैं। इस ग्रन्थ के भी वर्ण्य-विषय तीन खण्डों में विभक्त हैं जिन्हे इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है-

पूर्वखण्ड -

1. आयुर्वेदावतरण
2. सृष्टिप्रकरण
3. गर्भ प्रकरण
4. काल प्रकरण

---

1. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - आचार्य प्रियव्रत शर्मा - पृ0 206

5. दिनचर्या व ऋतुचर्या प्रकरण

6. मिश्र प्रकरण

7. मान परिभाषा

8. भेषज विधान

9. धात्वादिशोधन, मारण विधि

10. स्नेहपानविधि

11. पंचकर्म विधि

12. धूम्रपानाभि विधि

13. रोग परीक्षा

मध्य खण्ड -

1. ज्वर से संग्रहणी

2. अर्श से वातरक्त

3. शूल से भग्न

4. नाडी से बाल रोग

उत्तरखण्ड -

इस खण्ड में केवल बाजीकरण व रसायन के विषय में वर्णन प्राप्त होते हैं।

टीकायें -

इस ग्रन्थ पर राधाकृष्ण की 'सर्वांग निघण्टु सर्वस्व टीका प्राप्त होती है। जयदेव की 'श्री रणवीर देवावलोकन सद्वैद्यसिद्धान्तरत्नाकर' नामक टीका अपूर्ण रूप में प्राप्त होती है। लालचन्द्र वैद्यावदत्तराम चौबे की टीकायें उपलब्ध हैं।

अन्य आयुर्वेदीय ग्रन्थ -

इन मुख्य संहिताओं के अतिरिक्त क्षारपाणि संहिता,जतूकर्णसंहिता,पराशरसंहिता, माधवनिदान, सरनादसंहिता, विश्वामित्रसंहिता, दारूकसंहिता, भरद्वाज संहिता,

अश्विनीकुमारसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, सिद्धसार संहिता, कलह संहिता, नागभर्तृतन्त्र, आयुर्वेद प्रकाश, परहितसंहिता, योगतरंगिणी, टोडरानन्द, चक्रदत्त, आयुर्वेद विज्ञान चिकित्सा चन्द्रोदय, आयुर्वेद संग्रह आदि ग्रन्थ भारतीयों के आयुर्वेद में प्रति लगाव व ज्ञान परम्परा को द्योतित करते हैं।

आयुर्वेद व उसके अष्टांग -

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही इंगित किया गया है आयुर्वेद की परम्परा अनादि और अनन्त है। ब्रह्मा के द्वारा एक हजार श्लोकों का आयुर्वेद प्राप्त हुआ है।[1] प्रारम्भ में आयुर्वेद 'एक ही था,परन्तु धीरे-धीरे जब इसको ग्रहण करना मनुष्य के लिए कठिन प्रतीत लगा तब इसके विभाजन की आवश्यकता महसूस हुई। परिणाम स्वरूप अविभाज्य आयुर्वेद का विभाजन आठ भागों में किया गया,यही इसके आठ अंक है।

अंग एवं परिभाषिक शब्द हैं, इसका अर्थ है' उपकारक' अग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीमिरिति अंगानि।[2] इसे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि जिससे किसी के स्वरूप का ज्ञान हो उसे अंग कहते हैं। अतः जिससे आयुर्वेद के स्वरूप का ज्ञान होता है वे आयुर्वेद के अंग कहलाये। ये अंग आठ है-शल्य तंत्र, शालाकाय तंत्र, काय चिकित्सा, रसायन तंत्र भूतविद्या, कौमर्यभृत्य, अगद तंत्र रसाजीकरण।

शल्य तंत्र :-

शल्य हिंसायाम् अथवा शल्य शमनम् धातु से शल्यशब्द निष्पन्न होता है। जिससे शरीर में पीड़ा हो अथवा शारीरिक तन्तुओं की हिंसा हो वह शल्यकर्म कहलाता है।[3] शल्यतन्त्र के अन्तर्गत शल्यकर्मो के वर्णन है।

शल्यक्रिया का उल्लेख अत्यन्त प्रचीनकाल से मिलता है। देवभिषक अखिलदेव इस क्रिया में अत्यन्त निपुण थे,वेदों में इनके वर्णन प्राप्त होते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में

1. सु0सं0 अ0 1
2. वैदिक साहित्य और संस्कृति - आचार्य बल्देव उपाध्याय, पृ0 292
3. आयुर्वेद का इतिहास - अत्रिदेव विद्यालंकार, पृ058

वर्णित यज्ञों में पशुबलि का विधान है, पशुओं ने काटे जाने पर शारीरिक रचना का ज्ञान हुआ जो शल्यक्रिया में सहायक सिद्ध हुआ। उपनिषद्काल तक जिसमें मधुविद्या प्रधान है, तक शल्यक्रिया विकसित होती गई। मध्यकाल में शल्यक्रिया का ह्रास हुआ । गावों में हिन्दू नाई, शल्यक्रिया करने लगे। दूषित रक्त को निकालने के लिए जोंक तक का प्रयोग होने लगा।

शल्यक्रिया के लिए प्रमुख ग्रन्थ सुश्रुत संहिता है। इस ग्रन्थ में शल्यक्रिया को सर्वोत्तम माना गया है, क्योंकि आयुर्वेद के सभी अंगो को इस क्रिया की आवश्यकता होती है। शल्यक्रिया के सर्व प्राचीन हेतु काशी और तक्षशिला थे। दिवोदास धन्वन्तरि ने काशी में सुश्रुत आदि शिष्यों को इस क्रिया की शिक्षा प्रदान की थी। तक्षशिला का प्रमुख शल्यक्रिया ज्ञाता विद्वान जीवक था ।

प्रमुख ग्रन्थ :-

इस क्षेत्र मे पं0 वामदेव मिश्र का 'शल्य तन्त्र समुच्चय, मुकुन्दस्वरूप वर्माकाय 'शल्य प्रदीपिका' संक्षिप्त शल्य विज्ञान' रमानाथ द्विवेदी की 'सौश्रुती' अनन्तराम शर्मा का 'शल्य समन्वय' आदि प्रमुख इस विद्या के ग्रन्थ है। जिनके अतिरिक्त'भालुकि तन्त्र' करवीर्यतन्त्र'कृतवीर्यतन्त्र पौष्कलावतन्त्र,गौतमं तन्त्र, गोपुरक्षित तन्त्र,'कपिलतन्त्र', औषधनेव तंत्र, वृद्धभोजतन्त्र, आदि ग्रन्थ भी प्राप्त होते है।

शालाक्य तन्त्र :-

शलाका से शालाक्य शब्द निष्पन्न हुआ है। शलाका के द्वारा जिनकी चिकित्सा की जाती है,उनका अध्ययन इस अंक के अन्तर्गत किया जाता है। मुख, आँख, कान, नासिका, गला आदि शारीरिक अंगों की चिकित्सा शालाका के माध्यम से होती है। इन शारीरिक अंगों की चिकित्सा व उनके उपचार के उपाय जिन ग्रन्थों में वर्णित हैं शालाक्य तन्त्र क्रे अन्तर्गत आते है। प्राचीनकाल में शालाक्य चिकित्सा के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध क्षेत्र मिथिला था।

विश्वनाथ द्विवेदी का ' अभिनवनेत्र रोग चिकित्सा विज्ञान', रामनाथ द्विवेदी का 'शालाक्य तंत्र' इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण ग्रन्थ माने जाते हैं। 'कांकायनतंत्र' सात्यकि तन्त्र,'निमितन्त्र', विदेह तन्त्र, शौनक तन्त्र, गार्ग्यतन्त्र' कात्यातन्त्र' 'शालब तन्त्र' आदि ग्रन्थ इस अंक के महत्व पूर्ण ग्रन्थ हैं।

काय चिकित्सा :-

काय का अर्थ शरीर होता है, इसके अतिरिक्त इसका अर्थ अग्नि भी है। अग्नि अर्थात्जेठराग्नि से सम्पूर्ण शरीर का संचालन व नियन्त्रण होता है। इस अग्नि के विकृत हो जाने पर मनुष्य के 'शरीर' में विकार उत्पन्न हो जाता है। इसलिए कायचिकित्सा के अन्तर्गत इसी जठराग्नि को संतुलत रखने के लिए क्रियाओं का निर्देशन किया जाता है निदान और काय चिकित्सा इस अंक के प्रमुख स्तम्भ है।

इस अंक का प्रमुख ग्रन्थ है' चरक संहिता' इस अंक के निदान परक ग्रन्थों में –माधव का 'रोग विनिश्चय' 'आयुर्वेद प्रकाश' पर्दापरत्नमाला, महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त गणसेव का– सिद्धान्त निदान,अग्निवेश का अन्जन निदान, हंसराज वैद्य का भिषक्चक्रचित्तोत्सव' भी लोक प्रिय है । चिकित्सापरक ग्रन्थों में माधवकर का 'माधवचिकित्सत', वृन्द मा 'सिद्धयोग,वंङसेन का 'चिकित्सासार संग्रह', तीसटाचार्य का 'चिकित्सा मलिका, त्रिमल्लभट्ट की 'योगतरंगणी' बलराम का 'आतंकतिमिरभास्कर' आदि प्रसिद्ध हैं।

भूत विद्या :-

वैदिक संहिताओं के काल में इस अंग का विशद ज्ञान लोगों को था। अथर्ववेद में विशेषकर इसकाउल्लेख मिलता है। वे रोग जिनके कारण का ज्ञान नहीं हो सके,उसे इस श्रेणी में रखा जाता है। इसकोटि के रोगों की चिकित्सा दैवव्यपाश्रपर चिकित्सा के अन्तर्गत की जाती है। प्राचीन काल की भूत विद्या ही अद्यतत्र की क्रिमि चिकित्सा है।

कौमार भृत्य :-

काश्यप संहिता ने कौमारभृत्य को सर्वश्रेष्ठ अंक माना है।[1] शिशु रक्षा की पीढ़ी रक्षा का आधार है। आज का प्रसूति विज्ञान ही प्राचीन कौमार भृत्य है। योग्य सन्तान कैसे उत्पन्न हो? सूतिकागृह को कैसा बनाया जाय? प्रसवकर्म, में क्या-क्या सावधानियाँ बरतनी चाहिए? शिशुओं का पालन कैसे किया जाय? ये सम्पूर्ण उत्तर कौमार भृत्य में मिलते हैं। 'कुमारतन्त्र बृद्धकाश्यपसंहिता, 'काश्यप संहिता' पर्वतक तन्त्र' 'हिरण्याक्षतन्त्र' आदि इस अंक के महत्वपूर्ण अंक है।

अगद तन्त्र :-

विष, प्रयोग व विष निवारण के सम्बन्ध में पर्याप्त वर्णन अगद तंत्र के अन्तर्गत आता है। इस अंग का प्रयोग स्पष्ट रूपेण वैदिक संहिताओं विशेषकर अथर्ववेद के काल से ही चला आ रहा है।

प्राचीनकाल में राजाओं के यहाँ विषज्ञाता भिषक् रहते थे। वे प्रतिदन खाने पीने की सामाग्रियों का परीक्षण किया करते थे। इतिहास प्रसिद्ध घटना नन्दवंश का विनाश विष के द्वारा ही किया गया था। विष कन्यायें प्रयुक्त होती थीं। कन्या के जन्म काल से ही उसे थोड़ा-थोड़ा विष दिया जाता था, धीरे-धीरे अधिक मात्रा में विषसहन करने योग्य बन जाती थी। जो व्यक्ति ऐसी कन्या के साथ उछ्वास, सहचासादि कर्म करता था, वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता था।[2]

सर्वप्रथम वाग्भट्ट ने अष्टाग संग्रह में विषोपयोगी अध्याया में इसका प्रारम्भ किया है।[3] तान्त्रिकों ने रसशास्त्र के साथ विषविद्या को आगे बढ़ाया। यह महत्व की बात है कि 'रस' शब्द पारद के साथ-साथ विष का भी वाचक है। रसशास्त्र के ग्रन्थों में विष के भी प्रकरण है।[4] इस तन्त्रका उल्लेख 'गरुणसंहिता' सकसंहिता, 'लाड्यायन

1. का०सं०वि० 1/10
2. संग्रह - सूत्रस्थान, अ0-8
3. उत्तरस्थान 48
4. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास- अचार्य प्रियव्रत शर्मा, पृ0526

संहिता' आलम्बायन संहिता' बृद्धकाश्यपसंहिता, काश्यपसंहिता' आदि ग्रन्थों में मिलता है।

रसायनतत्र-रस शब्द से शरीर के रस, रक्त, मांस,मेदा,अस्थि,मज्जा और शुक्र इन सप्त धातुओं का अवबोध होता है। जिस विज्ञान से इन सप्त धातुओं के नवीनरूप में बने रहने की क्रिया वर्णित हो उसे रसायनतन्त्र कहते है।[1]

ऋग्वेद के इस अंग में उल्लेख मिलता है। देवभिषक् अश्विन इस अंग के सफल चिकित्सक थे।

इस अंग के द्वारा,शरीर में रोग निवारक क्षमता में वृद्धि की जाती है। इससे शरीरस्थ रोग दूर हो जाते हैं एवं बाहरी रोग प्रविष्ट नहीं हो पाते।

आयुर्वेद की सम्पूर्ण संहिताओं में रसायन सम्बन्धित उल्लेख मिलते है , परन्तु इस विषय में स्वतंत्र रूप में लिखे गये ग्रन्थों की संख्या कम ही है।नागार्जुन तन्त्र माण्ड्यतन्त्र,वशिष्ट तन्त्र पातञ्जल्यतन्त्र व्याधितन्त्र आदि ग्रन्थ इस तन्त्र पर लिखे गये स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। अभी हाल ही में पक्षधर झाँ का रसायनतन्त्र चौखम्भा-वाराणसी से सन् 1971 में प्रकाशित हुआ है।

वाजीकरण :-

वाजी के अनेक है जिसमें घोड़ा,शुक्र या वेग प्रमुख है। जिस विशिष्ट ज्ञान के द्वारा मनुष्य में शुक्रवृद्धि या वेगवृद्धि हो वह वाजीकरण है।[2] इस अंग के द्वारा मनुष्य अपना यौवन जीवन स्वस्थ्य रखते हुए स्वस्थ्य या उन्नत संतान की प्राप्ति करता है। इस अंग का प्राचीनकाल न वर्तमान दोनो में दो तरह का उत्तरदायित्व है। प्राचीनकाल में जब जनसंख्या कम थी तब जनसंख्या वृद्धि इसका लक्ष्य था एवं आज के युग में जनसंख्या नियन्त्रक इसका लक्ष्य है।'सुकुमारतन्त्र',वात्स्यायन का 'कामसूत्र' औद्दालकि एवं वाभ्रव्य का 'कामाशास्त्र' इस तन्त्र के प्रमुख ग्रन्थ हैं।

1. आयुर्वेद का इतिहास - अत्रिदेव विद्यालंकार, पृ0 63
2. वही पृ0 64

आयुर्वेद की प्राचीनता :-

मनुष्य ने अपने जन्म से व्याधियों के प्रतीकार के लिए अनेक उपायों का अविष्कार किया जिसे हम भिन्न-भिन्न देशों में इस प्रकार अवलोकित कर सकते हैं।

भारत :-

भारत में प्राचीनकाल में आयुर्वेद का ज्ञान समुन्नत रूप में था। वैदिक संहिताओं में इसके उल्लेख मिलते हैं। अथर्ववेद में तो इसकी भरमार है। भारत में 900 ई0पू0 के मनुष्य अपने रोगों को विवध प्रकार से दूर करते थे। वे कपल वेध द्वारा शिरस्थ व्याधियों को दूर करते थे। वे व्याधियों को अधिकांशस्त्र में 'भूत' संज्ञा से अवहित करते थे।[1]

मेसोपोटामिया :-

आचार्य प्रियवृत शर्मा ने मेसोपोटमिया को चिकित्सा की दृष्टि से सर्वप्राचीन माना है।[2] इस विषय में इनका कहना है कि सरलियोनार्ड बुले ने 1929 ई0 में उस नामक स्थान पर खुदाई करके इस सभ्यता को प्रकाशित किया। यह सभ्यता 4000 ई0पू0 की मानी जाती है। इतिहासक्रम की दृष्टि से दवव्यापाश्रय चिकित्सा पहले थी और युक्तिध्यपाश्रम चिकित्सा बाद की यहाँ के लोग दैवव्यापात्रय चिकित्सा को 'अशियु' और युक्ति ब्यवयारम चिकित्सा को 'असु' कहते। नाग को चिकित्सा का प्रतीक मानकर उसकी पूजा की जाती थी।

मिस्र :-

3000ई0 पू0 मिस्र के आचार विचार व रहन सहन के प्रमाण प्राप्त होते हैं।[3] मिस्र वासियों ने इसी समय कागज का निर्माण कर लिया था । मिस्रवासी शव को लेप करके बहुत दिनो तक सुरक्षित रखते थे। हेरोडोटस, जिनका काल

---

1. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - आचार्य प्रियव्रत शर्मा - पृ0 644
2. वही पृ0 666
3. वही पृ0 670

450इ0पू0 था, ने सर्व प्रथम मिस्र की चिकित्सा पद्धति को प्रकासित किया। इनका कहना है कि 'मिश्र में एक-एक रोगों को चिकित्सा करने वाले अनेक चिकित्सक हैं ।अतः देश चिकित्सकों से भरा पड़ा है। कोई आँख का इलाज करता है तो कोई दाँत का।[1]

यह प्रथा आयुर्वेदसे मिलती जुलती है। आयुर्वेद में भी विशेषता के आधार पर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय व ग्रन्थ थे, जैसे कायचिकित्सा का प्रतिनिधि ग्रन्थ चरक संहिता, शल्य चिकित्सा का प्रतिनिधि ग्रन्थ, सुश्रुत संहिता आदि। गर्भवती के गर्भ में लिंग ज्ञान के लिए मिस्र में एक प्रथा प्रचलित थी। किसी कपड़े के थैले में गेहूँ और यव अलग-अलग रख दिये जाते थे। उस थैले पर गर्भवती मूत्र करती थी। यव के पहले अंकुरित होने पर पुत्री और गेहूँ के पहले अंकुरित होने पर पुत्रोत्पत्ति सम्भावित मानी जाती थी।[2] यहाँ निवासी अत्यन्त प्राचीनकाल से ही न्यूमोनिया,दन्तरोग, आमबात, क्रिमि, प्लेग, गण्डमाल आदि रोगो से परिचित थे। हाइबेर, इलायची, अलसी, एरण्ड, कृष्णजीवक, सनाय आदि औषधियों का भी उन्हे अत्यन्त प्रचीनकाल से ज्ञान था।

रोम :-

रोम की एतिहासिक सत्ता 653 ई0पू0 से मानी जाती है।[3] पुरोहित ही चिकित्सकीय कार्य करते थे। स्वास्थ्य के लिए जल को संशोधित किया जाता था। यकृत शारीर का सर्वाधिक अंग माना जाता था।प्रसवक्रिया के द्वारा यदि गर्भवती की मृत्यु हो जाय तो शल्यक्रिया के द्वारा गर्भस्थ बच्चे को बाहर निकाला जाता था। चिकित्सक की असावधानी के कारण यदि रोगी की मृत्यु हो जाय तो चिकित्सक को दण्ड दिया जाता था। मूल चिकित्सक, पासा चिकित्सक, नगर चिकित्सक एवं दास चिकित्सक-ये चार चिकित्सकों की कोटियाँ होती थी। यहाँ के प्रमुख चिकित्सक थे,

---

1. *आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - आचार्य प्रियव्रत शर्मा - पृ0 670-671*
2. *वही पृ0 673*
3. *वही पृ0 684*

सेल्सस, ऐण्टोनी, मूसा, प्लिनी, डायरूकोरिडस, सोरेनस, गैलन आदि। गैलकन के बाद धीरे-धीरे चिकित्सा व्यवस्था मन्द होने लगी। जब प्लेग आदि रोगो के कारण लोग मरने ल गे और चिकित्सक रोकने में असमर्थ होने लगा तो लोगो ने चिकित्सकों को निराशा की दृष्टि से देखा तथा लोगो ने धार्मिक आस्था जगने लगी,फलतः ईसाई धर्म का प्रचार प्रसार हुआ।

बाबुल :-

युक्रेट्स नदी के तट पर बसे हुए बाबुल पर हम्भूराची वेश का प्रभुत्व था। मर्दुम की पूजा विशेष आस्था के साथ की जाती थी, जो रोगों के नाशक देवता के रूप मे जाने जात थे।1116 से 1078 ई0पू0 असुर के सम्राट तिगलत पिल्सर प्रथम ने बाबुल को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। लोग भूतप्रेतों पर ज्यादा विश्वास करते थे। लोग मानते थे कि मरने के बाद जिनका यथोचित संसकार नही होता था तो वो भूत प्रेत हो जाया करते थे। भूतों से नाना प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती थीं मूर्छा,ज्वर,प्लेग, हृदयरोग रतिजरोग, कुष्ठादि से लोग भली भाँति परिचित थे। आयुर्वेदिक औषधियों में फल-फूल,पत्ती और जड़ो का प्रयोग होता था। कमल और जैतून का अधिक प्रयोग होता था। औषधियों में जान्तव व वखनिज द्रव्यों का भी प्रयोग होता था।

मैक्सिको :-

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का प्रयोग अधिक था। नरबलि की भी प्रथा थी। वियोआ,नैनाकैट्ल, कोलोरीन,तम्बाखू,कैमोटल,रबर, आदि द्रब्यों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[1]

चीन :-

ऐतिहासिक दृष्टि से चीन का उल्लेख 2852-2205 ई0पू0 में व 1766-1122

1. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - आचार्य प्रियव्रत शर्मा - पृ0 674

ई0पू0 में उसके उत्कर्ष का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] यहाँ के लोग देवताओं पितरों एवं राक्षसों में विश्वास करते थे। अथर्ववेदीय चिकित्सा से लोग प्रभावित थे। ''वेनसाओकांगमु'' नामक चीनी ग्रन्थ में विविध औषधियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। चाल सम्राज्य में चिकित्सक एवं चिकित्साधिकारियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। रोगी की मृत्यु होने पर चिकित्सकों को दण्ड दिया जाता था। 'हुआतो' नामक चिकित्सकों 'सामो' नामक राजकुमार का असफल इलाज करने पर दण्ड दियागयाथा। सृष्टि प्रकृपा में पंचतत्त्वों के योगदान के सिद्धान्त को यहाँ के निवासी मानते थे।

यूनान :-

2000ई0पू0 के आसपास इस सभ्यता का चरमोत्कर्ष था। यहाँ के निवासी न तो देवताओं के प्रति पूर्ण समर्पित भाव रखते थे न तो भूतप्रेतों से डरते थे। जादू टोनों का भी कम प्रचार प्रसार था लेकिन शकुनों पर बहुत विश्वास रखते थे यहाँ के लोगों की यह धारणा थी कि देवता क्रोधित होकर रोगों को उत्पन्न करते है। इसलिए रोगों को दूर करने के लिए मन्त्रों व मणियों का प्रयोग किया जाता था। ''एक्लिपियस' नामक एक धार्मिक सम्प्रदाय के लोग मन्दिरों का निर्माण करके उनमें रोगों की चिकित्सा की जाती थी। शारीरिक रोगों की चिकित्सा युक्तिव्ययाश्रय चिकित्सा के माध यम से होती थी तथा मानस रोगों की शान्ति के लिए संगीत का विधान था जो चरककालीन आतुरालयों में संगीत कुशल लोगों की नियुक्ति के समान था।[2] पाँचवी या छठवीं शताब्दी ई0पू0 में यहाँ एक दार्शनिक विचारधार विकसित हुई।एथेन्स में सुकरात नामक महान दार्शनिक उत्पन्न हुआ, जिसके शिष्यों में प्लेटों का प्रमुख स्थान था। इसी धारा के कारण चिकित्सा युक्तिव्यपाश्रय की ओर-झुकने लगी। डेमोसीडस का यूनान में बड़े आदर के साथ एक चिकित्सक के रूप में स्मरण किया जाता था,जिसे बन्दी बनकार फारस लाया गया था। वहाँ उसने राजा व रानी की चिकित्सा की थी।

1. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - आचार्य प्रियव्रत शर्मा - पृ0 675
2. च0सू0 15/7

सिसिली,निडस,कौस,रोडस, साइरन आदि यूनान के प्रमुख चिकित्सा केनु थे। हियोक्रेटिस, थियोफ्रस्टस, मिलिथ व हिरोफिलस आदि यहाँ के प्रमुख चिकित्सक थे।

अरब :-

यहाँ के निवासियों का सांस्कृतिक जीवन बड़ा उन्नत था। इन लोगो ने स्पेन व उत्तरी,अमेरिका पर अपने अधिकार जमायें थे। यहाँ के निवासियों ने चरक सुश्रुत आदि 15 भारतीय आयुर्वेदीय ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद किया था। अविसिना, रेजस, अबुलकासिम, एवेनजोआर आदि यहाँ के प्रमुख चिकित्सक थे।

प्राचीन फारस :-

यहाँ के अस्तित्व छठी या सातवीं शताब्दी ई0पू0 का माना जाता है।[1] देव प्रसन्नता के लिए पशुबलि की प्रथा थी। यहाँ अच्छे चित्सिक नहीं थे,इस लिए मिस्र से चिकित्स्क बुलाये गये थे। यहाँ के शल्यक्रिया विशारद,औषधिज्ञाता एवं मन्त्रज्ञाता तीन प्रकारक चिकित्सक होते थे। कुष्ठ,चर्मरोग, ज्वर,मानसरोग, आपस्मार आदि रोगो में उल्लेख प्राप्त होते हैं।[2]

पेरू:-

यहाँ का धार्मिक जीवन बड़ा समुन्नत था। देवताओं में सूर्य की प्रधानता थी। दैवव्ययाश्रय चिकित्सा प्रचलित थी। आमबात, मलेरिया, अतिसार, बालरोग, तथा कुष्ठादि के उल्लेख प्राप्त होते है।[3] देवताओं की प्रसन्न्ता के लिए नर बलि की प्रथा थी। तूतिया, गन्धक आदि द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था।

लंका :-

धार्मिक दृष्टि से लंका भारत से प्रभावित था बौद्धधर्म भारत से ही लंका में गया था। चतुर्थ शताब्दी ई0 में लंका का राजा बुद्धदास जो कि बौद्ध धर्म को मानता

---

1. *आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - आचार्य प्रियव्रत शर्मा - पृ0 677*
2. *वही पृ0 678*
3. *वही पृ0 674*

था,भारतीय चिकित्सकों को अपने यहाँ नियुक्त किया था।[1] चिकित्सा पर आधारित अधिकतर सिंघली पुस्तकें संस्कृत ग्रन्थों पर ही आधारित है। 1929 ई0 में गम्पहा मे एक आयुर्वेदीय विद्यालय कार्यरत है, जयसिंह विक्रमाराच्छी,बृद्धदास आदि चिकित्सक लंका के प्रमुख चिकित्सक थे।

नेपाल :-

भारत के अत्यन्त समीप होने के कारण नेपाल में भी आयुर्वेद के द्वारा लोगों को स्वासथ्य प्रदान किया जाता था। संवत 1984 तक आयुर्वेद की शिक्षा प्राचीन शिक्षा पद्धति के माध्यम से दी जाती थी। पॅ0 हेमराज शर्मा की अध्यक्षता में सं0 1985 में एक आयुर्वेदीय विद्यालय की स्थापना हुई। शर्मा जी ने काश्यप संहिता की भूमिका भी लिखी थी।

इन वर्णनों से यह स्पष्ट हो गया कि आयुर्वेद केवल भारत में ही नहीं अपितु संसार के अधिकांश भागों में व्याप्त था। प्रारम्भ में लोगों ने दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का आश्रय लिया, लेकिन आगे चल कर वह पुस्तिव्यपाश्रय की अग्रसर होती गई और आज के परिप्रेक्ष्य हम इसका अध्ययन इस प्रकार कर सकते हैं-

अद्यतन आयुर्वेद :-

इतिहास मे काल निर्धारण एक जटिल प्रश्न होता हैं आयुर्वेद भी इससे अछूता नहीं है। अद्यतन आयुर्वेद के सम्बन्ध में अनेक धारायें प्रवाहित होती है। अत्रिदेव विद्यालंकार ने अद्यतन आयुर्वेद का काल स्वामी दयानन्द सरस्वती के काल से माना है।[2] श्री दुर्गाशंकर केवल राम शास्त्री ने इस काल का प्रारम्भ श्री मधुसूदन के मर्दे के चीरने के काल से मानते हैं।[3] इस समय तक आते-आते आयुर्वेदीय ग्रन्थों का प्रणायन हिन्दी भाषा में होने लगा। इस काल तक आत-आते गुरु-शिष्य परम्परा जो

---

1. *आयुर्वेद का इतिहास - अत्रिदेव विद्यालंकार पृ0 26*
2. *आयुर्वेद का इतिहास - पृ0 233*
3. *सन् 1835-36 (आयुर्वेद का इतिहास अत्रिदेव विद्यालंकार पृ0 233 के आधार पर)*

गुरुकुलों में थी परिवर्तित हुई और नये -नये आयुर्वेदिय विद्यालय खोले गये। भारत में इस समय लगभग 50 आयुर्वेदिय विद्यालय कार्यरत हैं। इन विद्यालयों के अतरिक्त लगभग 50 विश्व विद्यालय भी इस दिशा में कार्यरत हैं।[1] सन्1956 में जायनगर में प्रथम स्नातकोत्तर शिक्षण संस्था स्थापित हुई तत्पश्चात् 15 अगस्त 1963 को काशी हिन्दू विश्व विद्यालय,वाराणसी में स्नातकोत्तर का आयुर्वेदीय शिक्षण का प्रारम्भ हुआ।

आधुनिक आयुर्वेदीय चिकत्सा में प्राचीन ज्ञान के साथ पाश्चात्य चिकित्सा को भी समाविष्ट किया गया है। इस विषय में कविराज श्री गणनाथ सेन ने 'प्रत्यक्षशरीरम्' ग्रन्थ की रचना की और प्राचीन तथा नवीन चिकित्सा को एक साथ समावेशित किया। आयुर्वेद के विकास मे परिपेक्ष्य में गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय हरिद्धार,उत्तराचंल ने महान योगदान दिया है।

आज की आयुव्रेद की परम्परा निरन्तर अग्रसर होती जा रही है। इस परम्परा में उत्तर प्रदेश के पं0 सत्यनारायण शास्त्री,कविराज धर्मदास,राजेश्वर शास्त्री,कविराज ज्ञानेन्द्र नाथ सेन,पं0 अर्जुन मिश्रा आदि विशेष विद्वानों ने योगदान दिया। बगांल के कविराज गणनाथ सेन,कविराज यामिनी भूषण राय, कविराज श्यामादासवाचस्पति, कविराज गंगाधर राय, कविराज विजयरतन सेन, कविराज द्वारकासेन,राजस्थान के पं0 नन्दकिशोर शर्मा, पं0 मणिराम शर्मा आदि,दिल्ली के कविराज हरि रजंन मजमूदार, वैद्य मनोहर लाल,कविराज उपेन्द्रनाथ दास आदि, बिहार के पं0 शिवचन्द्र मिश्र,ब्रज बिहारी चतुर्वेदी, पं0 रामदेव ओझा, यतीन्द्रनाथ अष्टांग, आदि महाराष्ट्र के गोवर्धन शर्माक्षंगडी पं0 गंगाधर शास्त्री गुणेश शकंर दास जी शास्त्री पदे, पुरूषोत्तम शास्त्री हिरलेकर आदि,गुजरात के वैद्य सुन्दरलाल नाथ भाई जोशी, वैद्य अमृतलाल प्राणशंकर,वैद्य श्वासदेव मूलशंकर द्विवेदी आदि पंजाब के पं0 मस्तराम शास्त्री,पं0 रामप्रसाद शर्मा,

1. *आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास - आचार्य प्रियव्रत शर्मा - पृ0 593*

आचर्य सुरेन्द्र मोहन आदि। दक्षिण भारत के डॉ0ए0 लक्ष्मी पति,डा0 गोपाल चार्लु,श्री निवास मूर्ति आदि विद्वानों की अद्यतन आयुर्वेद के विषय में महान भूमिकायें रहीं।

अद्यतन आयुर्वेद की परम्परा में हिन्दी को प्रमुख माना गया। आयुर्वेद को अधिक व्यापक किया गया, क्योकि जन सामान्य की भाषा हिन्दी ही है। अत्रिदेव विद्यालंकार जी ने आयुर्वेद को जन सामान्य में प्रचारित करने के लिए संस्कार विधि विमर्श,स्वास्थ्य और सद्वृतत्त स्त्रीयों का स्वास्थ्य आदि रोग विनाशक अनेक ग्रन्थ हिन्दी में लिखे।

इतना सब कुछ होते हुए भी आयुर्वेद प्रगति संतोषजनक नहीं है। इतिहास मात्र का हिन्दी में प्रकाशन ही आयुर्वेद के विकास मे सब कुछ नहीं हो सकता इस लिए यह आवश्यकता है कि अधिक रोगो पर जितनी ही आसानी और कम व्यय से अधिकार किया जा सके आयुर्वेद का भविष्य उतना ही उज्जवल होगा।

अध्याय तृतीय

तृतीय अध्याय
संस्कारों के विधि-विधान- आयुर्वैज्ञानिक दृष्टि में

संस्कारों के सम्पादन में दो पक्ष सामने आते हैं- प्रथम- संस्कारों के विधि-विधान और द्वितीय संस्कारों में प्रयुक्त मंत्र। विधि विधान ढाँचा है और मन्त्रों का विनियोग प्राण। प्रस्तुत अध्याय में हम विधि विधानों का आयुर्वेदीय दृष्टि से अध्ययन करेगें।

संस्कारों में कुछ कर्म ऐसे है जिनका उपयोग प्रत्येक संस्कार के प्रारम्भ में किया जाता है जैसे- पवित्रीकरण, संकल्प,शान्ति पाठ आदि। इनका प्रयोग अत्यन्त वैज्ञानिक है। आयुर्वेद शास्त्र में में इन कर्मो की बड़ी महत्ता है।[1] आयुर्वेद में चिकित्सा का तीन प्रकार से विभाजन किया गया है- दैवव्यपाश्रय, युक्ति व्याश्रय और सत्वावजय। दैवव्यजश्रय चिकित्सा में स्वत्ययनादि कार्यो का समावेश किया जाता है। युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा के अर्न्तगत उचित आहार व औषधि सेवन है। सत्वावजय के अन्तर्गत अपश्य वस्तुओं के असेवन आता है।

जब हम रोगों पर दृष्टिपात करते हैं तो तीन प्रकार के तथ्य सामने आते हैं- प्रथम- कुछ रोगों के कारण स्पष्ट रूप से दिखलाई देते हैं जिनका उपचार आसान होता है। द्वितीय कुछ रोगों के कारण स्पष्ट होते ही नहीं, अतः जिन रोगों के कारण स्पष्ट प्रतीत न हो वे पूर्व जन्म के कर्मो के परिणामस्वरूप माने जाते है। तृतीत कुछ रोग ऐसे होते हैं जिनके कारण तो दिखलाई देते हैं मगर कारण की अपेक्षा रोग अधिक रूप में दिखलाई देते हैं अतः ऐसे रोग पूर्व और वर्तमान दोनों जन्मों के कार्यो के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

ये स्वस्तिवाचनादि कार्य पूर्वजन्म के बुरे कर्मो को शान्त करते हैं। इससे व्यक्ति का कल्याणमय मार्ग प्रशस्त होता है, अतः ये दैवव्यपाश्रय चिकित्सा की कोटि में गिने

1. *संस्कार विधि विमर्श, पृ0 4 (सुश्रुत संहिता पर आधृत)*

जा सकते हैं। प्रथम अध्याय में जिन संस्कारों को वर्णित किया गया है, उन्ही संस्कारों के विधान जो आयुर्वेद की दृष्टि में संगत हैं, का उल्लेख इस अध्याय में इस प्रकार किया जा सकता है-

विवाह :-

शौनक, पारस्कर, आपस्तम्ब, आश्वलायन, बौधायन, भरद्वाज, योकिल, खादिर, जैमिनीय, आदि गृह्यसूत्रों में विवाह का बडा ही क्रमबद्ध विवेचन किया गया है। क्योकि हिन्दू संस्कारों में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अधिकांश गृह्यसूत्रों में इन्हीं संस्कारों का वर्णन प्रारम्भ होता है। विवाह स्वयं एक यज्ञ माना जाता था और जो व्यक्ति विवाह कर-गृाहस्थ जीवन में प्रवेश नहीं करता था उसे अशिय अथवा यज्ञहीन कहा जाता था।[1]

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में विवाह को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। चरक संहिता का विवाह के सन्दर्भ में कहना है-'अच्छाय-----तथानर :।[2] इस कथनका सारांश है बिना पुत्र के व्यक्ति छाया रहित, फल रहित एक ही शाखा वाले, अकल्याणकारी गन्ध ायुक्त एक मात्र स्थित वृक्षवत होता है। चित्रस्थ दीपक के समान होता है जो धातु के न होने पर भी धातु के समान दिखलाई देते है। तृण से बने धोखे के समान होता है आदि। इन सब विवरणों से यही स्पष्ट होता है कि पुत्र व्यक्ति के लिए आवश्यक है पुत्रोत्पत्ति बिना विवाह के सम्भव नही है इस लिए विवाह अत्यावश्यक व महत्व पूर्ण संस्कार है।

गृह्यसूत्रो में विवाह से पूर्व ब्रह्मचर्य पालन का विधान है। ब्रह्मचर्य प्रत्येक के लिये अत्यावश्यक है। जीवन के प्रारम्भ में ब्रह्मचर्य पालन से जीवन को स्वस्थ दिशा मिलती है। सम्पूर्ण जीवन रोग रहित रहता है।

---

1. तै0ब्रा0 2.2.2.6 (हिन्दू संस्कार के आधार पर)
2. संस्कार विधि विमर्श - अत्रिदेव गुप्त - पृ0 9 के आधार पर

गृह्यसूत्रों में विवाहार्थ कन्या के लक्षणों का कथन किया गया है जो आयुर्वेद की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण हैं। कन्या को सर्वांग पूर्ण[1] होने का कथन किया गया है अर्थात् कन्या के दाँत, ओष्ठ, नाक, केश स्तन आदि सामान्य हों। अत्रिदेव गुप्त जी भी इसी का समर्थन करते हैं।[2] स्तन के विषय में चरक -संहिता का कथन है कि 'नात्यूर्ध्वो-----स्तनसम्यत्'[3] अर्थात् स्तन नाति स्थूल नातिकृश न नीचे की तरफ झुके अग्रभाग सुन्दर आदि होने चाहिए। स्तन ऐसे हों कि बच्चे के दुग्धपान में कोई कठिनाई न हो।

कन्या लक्षण परीक्षा में लोगो की भी चर्चा है। गृह्यसूत्रों का अभिमत है कि लोग न बहुत ज्यादा हों न कम। दोनो ही स्थितियाँ आयुर्वेदीय दष्टि से अनुचित हैं। चरक संहिता में लोगो कीसंख्या साढ़े तीन करोड बतलाई गई है। इससे कम व अधिक अस्वस्थ्य का द्योतक है। लोग अगर इससे ज्यादा होगें तो एक रोम कूप से कई रोम निकले होगें, अतः स्वेद रूप में निकलने वाले मतों के बहिर्गमन में कठिनाई होगी। यही परिणाम लोगों के कम होने में भी होगा। इसलिए लोगों की उचित संख्या होनी चाहिए।[4]

कन्या लक्षण परीक्षा में कहा गया है कि कन्या का शरीर सामान्य होना चाहिए अर्थात् न अधिक स्थूल हो और न अधिक क्षीणकाय।[5] चरक संहिता का इस विषय में कहना है कि मोटा होना अधिक चर्बी होने का परिणाम है, अधिक चर्बी वाली कन्या की प्रजनन शक्ति क्षीण होती है। कृश होना रुग्णता का प्रतीक है। इन दोनो प्रकार के व्यक्ति निन्दनीय है।[6]

विवाह प्रकरण में कहा गया है कि वर व वधू की उम्र में बहुत अधिक अन्तर

1. गो०गृ०सू०, पृ० 278
2. सं०वि०वि०, अत्रिदेव गुप्त, पृ० 95
3. च०सं०शा० स्था० अ० 8
4. गो०गृ०सू० पृ० 278
5. वही पृ० 279
6. च०सं०सू०स्था० अ० 21

न हो अर्थात् कन्या न अधिक कम उम्र वाली हो और न अधिक उम्र वाली। गोभिल[1] तथा मानव[2] गृह्यसूत्रकार नग्निका को विवाह के लिए सर्वोत्तम मानते हैं। वय प्रकरण में कहना है कि सामान्यतः स्त्रियों की प्रजनन शक्ति अट्ठारह से तेईस वर्ष तक अच्छी स्थिति में रहती है।[3] जैसे – जैसे उम्र ज्यादा होती है वैसे- वैसे उनकी प्रजनन शक्ति कम होती जाती है। एक निश्चित उम्र के बाद यह शक्ति समाप्त हो जाती है। विहित उम्र में उत्पन्न बच्चे ज्यादा स्वस्थ होते हैं। गृह्य सूत्रों में इसी लिए न ज्यादा न कम उम्र होने का तथ्य विहित है। ऐसा उल्लेख मिलता है कि जब कन्या सोलह से कम उम्र वाली हो और पच्चीस से कम तो उन दोनो से उत्पन्न सन्तान गर्भाशय में ही मर जाती है या यदि उत्पन्न भी हो तो रोग ग्रस्त व निर्बल होगी।[4]

कन्या लक्षण परीक्षा में कन्या के परिवारजनों को भी दृष्टिगत किया गया है। आश्वलायन के अनुसार सर्वप्रथम माता और पिता दोनो की ओर से कुल की परीक्षा करनी चाहिए।[5] दोनो पक्ष चरित्र व्यवहार व धन में समान होना चाहिए। मनु के अनुसार विवाह सम्बन्ध में अधोलिखित दस कुल भले ही वे कितने ही ऐश्वर्य सम्पन्न क्यो न हों, वर्जनीय हैं। वे इस प्रकार हैं- उत्तम क्रियाओं से हीन, पुरुष सन्तति से रहित वेदशास्त्र आदि के पठन-पाठन की परम्परा से हीन जिनमें स्त्री पुरुषों के शरीर परघने और लम्बे केश हों, अर्श, क्षय, मन्दाग्नि,मृगी, श्वेतकुष्ठ तथा गलित कुष्ठ से ग्रस्त।[6] दोनो कुल यदि धन की दृष्टि से समान नहीं रहते हैं तो कन्या मानसिक दृष्टिसे दबी रहती हैं।

गृह्यसूत्रों में कपिल वर्ण कन्या को निषिद्ध कहा गया है। कपिल वर्ण रोगी

1. गो0गृ0सू0 – 2.1.
2. वही 1.7.12
3. सं.वि0वि0- अत्रिदेव गुप्त, पृ0 101
4. वही पृ0 99
5. 'कुलमग्रे परीक्षते मातृतः पितृतश्चेति' – 15
6. मा0स्म0 3.10

होने का संकेत है। इस विषय में डॉ0 राजबली पाण्डेय का कहना है कि बुद्धिमान पुरुष को विवाह में ऐसी स्त्री का सदा वर्जन करना चाहिए, जिसके पलक नहीं गिरते, जिसकी दृष्टि क्षीण हो गई हो, जिसके जधन स्थल पर लम्बे बाल हो, जिसके घुटने बहुत अधिक उठे हो, जिसके कपोल पिचक गये हों जो पाण्डुरोग से ग्रस्त हो जिसकी आखें लाल हो, जिसके हाथ पैर बहुत अधिक पतले हों, जो बहुज लम्बी या ठिगनी हो , जिसकी आँखों पर भौंह न हो जिसके दाँत बहुत कम हों, जिसका मुख भयानक व अरुचिकर हो।[1]

विवाह में ही एक कर्म ज्ञातिकर्म है। इसमें यव व माष को जल अथवा सुरा में पीसकर सम्पूर्ण अंगों में लेप का विधान है। यव के रस से अनेक धर्मविकार दूर हो जाते हैं। चरक संहिता में यव व माष के गुणों का वर्णन इसी भाव में हैं।[2]

विवाह में एक क्रिया चतुर्थी कर्म है।[3] इसमें गृह्याग्नि की प्रतिष्ठा की जाती है।गृह्यसूत्रों के अनुसार- विवाह के पश्चात् चौथे दिन इस कार्य को किया जाता है। इसमे घृत व जल के मिश्रण को सर्वांग में लगाने का विधान है। घृत चर्म को स्निग्ध बना देता है साथ ही साथ घृत वर्गस्थ छोटे-मोटे कीटाणुओं को भी नष्ट करने की क्षमता रखता है।

विवाह के ही अन्तर्गत त्रिरात्रव्रत का क्रम आता है।[4] गृह्यसूत्रों के अनुसार यह व्रत एक वर्ष, बारह दिन, छः रात्रि अथवा कम से कम तीन रात्रि का होना चाहिए। यह व्रत यह द्योतित करता है। कि विवाह विषयोपभोग की स्वच्छन्दता नहीं है। विवह के प्रारम्भ में ही ब्रह्मचर्य का पालन बतलाता है कि जितना ही आत्म संयम होगा, ब्रह्मचर्य पालन होगा तो आगे होने वाली सन्ताने भी स्वस्थ्य होगी।[5]

1. हि0सं0 - पृ0 245-246
2. च0सं0सू0स्था0 अ0 27
3. पा0गृ0सू0-1.11.13, गो0गृ0सू02.5, शां0गृ0सू0-1.18.19; खा0गृ0सू0-1.4.22, आ0गृ0सू0 8.8
4. पा0गृ0सू0- 1.8.21
5. बौ0गृ0सू0-1.7.11

गर्भाधान :-

गर्भाधान सम्बन्धी व्यवस्थित विवरण सर्वप्रथम गृह्यसूत्रों में ही उपलब्ध होता है। गर्भाधान क्रिया स्त्री क्षेत्रवत् है। जिस प्रकार खेत के उर्बर जुताई आदि से युक्त होने पर फसल अच्छी उत्पन्न होती है उसी प्रकार स्त्री के स्वस्थ्य और गर्भधारण के योग्य होने पर स्वस्थ्य सन्ताने उत्पन्न होती है। इस संस्कार में चार प्रमुख तथ्य हैं- ऋतु, क्षेत्र, वीज एवं जल। ऋतु का अर्थ गर्भाधान का समय है। स्त्रीयों में रजोदर्शन गर्भधारण के समय का द्योतक है क्षमता का नहीं। यह क्षमता आट्ठारह वर्ष के पश्चात् ही आती है। इस अवस्था तक स्त्रियों का रज परिपक्व हो जाता है, इसी लिए गृह्यसूत्रों में गर्भाधान पूर्ण यौवन के साथ करने को कहा गया है।

गर्भाधान कब करें? इसकी चर्चा प्रथम अध्याय में कर चुके हैं। इसका भाव है रक्त स्राव बन्द होने के बाद रक्तस्राव से सोलहवीं रात्रि के भीतर इस संस्कार को करना चाहिए। रक्तस्राव के समय गर्भाधान उचित नहीं है। चरक संहिता का भी इस विषय में अभिमत है कि रक्तस्राव प्रारम्भ होने के तीन रात्रियों पर्यन्त गर्भाधान न करें।[1] प्रारम्भिक तीन रात्रियो में गर्भाधान दरिद्रता का हेतु होता है।[2] डॉ0 जयशंकर मिश्रकी भी यही अवधारणा है।[3] ऐसी अवधारणा में वास्तव में तथ्य पूर्ण हैं। प्रारम्भ रात्रियों में होने वाले रक्तस्राव में सूखे हुए रज,रक्त तथा अन्य सैल्स होते हैं। जब ये बाहर निकल जाते हैं तो गर्भाशय शुद्ध हो जाता है और उसमें गर्भधारण की योग्यता आ जाती है। यदि रक्तस्राव की रात्रियों में गर्भ स्थिर हो भी जाता है तो गर्भ में स्थित मृत हो जाता है या उत्पन्न होने पर रोग ग्रस्त का शक्ति हीन होता है। चिकित्सा विशेषज्ञों की मान्यता है कि इस काल में गर्भाधान क्रिया करने से उपदंश नामक रोग होने की सम्भावना रहती है। दूषित रक्त के प्रभाव से खुजली आदि

1. च0सं0शा0स्था0अ0 2
2. वही अ0 25
3. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास - डॉ0 जयशंकर मिश्र, पृ0 289

अन्य कई रोगों के होने की सम्भावना रहती हैं।

गृह्यसूत्रों में षोडश रात्रि पर्यन्त गर्भाधान का काल मानते हैं। बौधायन कहते हैं पुरुष स्त्री के समीप चौथी से सोलहवीं रात्रि पर्यन्त जाये, विशेषतया अन्त वाली रात्रियों में।[1] गोभिल सोलह रात्रियों तक गर्भकाल मानते हैं।[2] स्मृतियाँ भी यही कहती हैं।[3] यदि सोलहवीं रात्रि के पहले गर्भाधान नहीं होता है तो गर्भाशय बन्द हो जाता है। रज धीरे-धीरे सूख जाता है। ये सूखे हुए रक्तादि अगले रजोदर्शन में बाहर निकल जाते हैं। रजो दर्शन क्रिया प्रत्येक माह होने के कारण स्त्रियों में प्रमेह नामक रोग की कमी देखी जाती है। जिन स्त्रियों में यह क्रिया नहीं होती मूत्र सम्बन्धी अनेक विकृतियाँ मिलती है।

गोभिल का अभिमत है कि युग्म रात्रियों में गर्भाधान करने से पुत्र एवं अयुग्म रात्रियों में पुत्री उत्पन्न होती है।[4] ऐसी मान्यता स्मृति शास्त्रों की भी है।[5] डॉ0 राजबली पाण्डेय ने इस विषय मे विस्तृत चर्चा की है। उनका कथन है कि चौथी रात्रि में गर्भाधारण करने से उत्पन्न पुत्र अल्पायु धनहीन होता है। पंचम रात्रि में उत्पन्न कन्या, कन्या जननी होती है। छठी रात्रि का बच्चा मध्यम श्रेणी का होता है। सातवीं रात्रि में उत्पन्न कन्या बन्ध्या होती है। आठवीं रात्रि का बालक धनवान, नवीं रात्रि के गर्भ से शुभ स्त्री, दसवीं रात्रि का पुत्र बुद्धिमान, ग्यारहवीं रात्रि की कन्या अधार्मिक, बारहवीं का श्रेष्ठ पुरुष, तेरहवीं रात्रि की कन्या व्यभिचारिणी, चौदहवीं रात्रि का पुत्र धार्मिक कृतज्ञ, संयमी व दृढ़ प्रतिज्ञ, पन्द्रहवीं रात्रि कन्या बहुत से पुत्रों को उत्पन्न करने वाली व पतिव्रता एवं सोलहवीं रात्रि का पुत्र सर्वोत्तम होता है।[6] युग्म व अयुग्म रात्रियों में पुत्र व पुत्री की उत्पत्ति के सन्दर्भ में अत्रिदेव गुप्त जी का

1. बौ0गृ0सू0 पृ0 64-65
2. गो0गृ0सू0 पृ0 352
3. आप0ध0 सू0 2.1
4. गो0गृ0सू0 पृ0 352
5. मनु स्मृति 3.48
6. हि0सं0पृ0 64-65

कहना है–युग्म रात्रियों में आर्तव(रज) क्षीण रहता है, अयुग्म रात्रियों में पुष्ट रहता है। इसी कारण युग्म रात्रियों में गर्भाधान करने से पुत्र और अयुग्म रात्रियों में गर्भाधान करने से कन्या की उत्पत्ति बतलाई गयी है।[1] इस विषय में गुप्त जी की अवधारणा है कि अयुग्म स्त्रियों (निधियों) में आर्तव पुष्ट होता है और युग्म निधियों में क्षीण। इस पुष्टता व क्षीणता को प्रभावित करता है चतुआ। वैसे यह सिद्ध है कि शुक्र की बलिष्ठता से पुरुष सन्तति और रज की बलिष्ठता से स्त्री सन्तति सम्भावित होती है। शारीरिक शक्ति, ओषधि सेवन व आहार बिहार से शुक्र व रज की बलिष्ठता प्रभावित होती है।

गृह्यसूत्रों का अभिमत है कि गर्भाधान रात्रि में ही करना चाहिए।[2] स्मृतियाँ भी इसका अनुमोदन करती है।[3] इस विषय में डॉ0 राजबली पाण्डेय जी का कहना है कि दिन में सम्भोग करने वाले पुरुष का प्राणवायु अधिक तेज चलने लगता है। जो रात्रि को अपनी पत्नी के समीप जाते हैं, वे ब्रह्मचारी ही हैं। दिन में सम्भोग नहीं करना चाहिए, क्यों कि इससे अभाग्यशाली शक्तिहीन और अल्पायु सन्तति होती है।[4]

पुंसवन :-

'पुमान् सूयते अनेन कर्मणा इति पुंसवनम्'[5] जैसी आयुर्वेदीय परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद भी इस संस्कार को उचित मानता है। होने वाली सन्तान पुरुष ही हो, इस लिए इस संस्कार को किया जाता है। कभी उचित परिणाम नहीं प्राप्त होता, क्योंकि प्राक्जन्मकृत कर्म यदि प्रथल होते हैं तो वर्तमान जन्म के कर्म अप्रभावी हो जाते हैं। अतः पुंसवन क्रिया सफल नहीं होती ,ठीक इसके विपरीत होने पर सफल होती है।

1. सं.वि0वि0–अत्रिदेव गुप्त– पृ0 20
2. गो0गृ0सू0– 2.5.7
3. याज्ञ0स्मृ0 1.79
4. हि0सं0– डॉ0 राजबली पाण्डेय, पृ064
5. च0सं0शा0स्था0, अ0 8

गृह्यसूत्रों के काल में इस संस्कार को गर्भधारण के पश्पात् तीसरे या चौथे मास में सम्पन्न किया जाता था। जब चन्द्र किसी पुरुष नक्षत्र विशेषतया पुष्य नक्षत्र में संक्रमण कर जाता था।[1] सामेवेदीय गृह्यसूत्र भी इसी संस्कार को गर्भ के तृतीय महीने के पश्चात् करने के निर्देश देते हैं।[2] इस काल तक बच्चे का लिंग स्पष्ट नहीं होता अतः इन क्रियाओं के द्वारा पुरुष सन्तति की आशा की जाती थी। अतीतकाल में लोग लिंग वमन के लिये कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। 'बाम अंग से अधिकाशं कार्यो को करना, निद्रावस्था में खाने की वस्तुओं में सभी लिंग की वस्तुओं की चाह रखना, गर्भ का बाँई कोख में बढ़ना, गर्भमण्डल की गोलाकृति न होना, दुग्ध का सर्वप्रथम बाए स्तन में आना, स्त्री सन्तान होने के लक्षण हैं इसके विपरीत पुरुष सन्तति होने के संकेत हें। गर्भ शिशु यदि पुरुष है तो गर्भाकृति कम बढ़ती है लेकिनस्त्री सन्तति होने पर गर्भोदक ज्यादा बढ़ता है। इस सम्बन्ध में और कुछ नये उल्लेख प्राप्त होते हैं। एक अंग्रेजी पत्र में ऐसा उल्लेख है एक जर्मनी डाक्टर ने प्रयोग किया उसके अनुसार यदि गर्भस्थ पुत्र होगा तो माता की दाहिनी आँख में स्वर्ग रेखा का चक्कर दिखाई देगा और गर्भस्थ कन्या होने पर बाँई आँख में नीला चक्कर होगा।[3] इन सबके होने पर भी यह स्पष्ट है कि कोई भी सिद्धान्त सम्पूर्ण सत्य नहीं हैं इसी का लाभ उठाने के लिए इस संस्कार का औचित्य है।

इस संस्कार में बटवृक्ष के शुंग के रस का विधान है। शुंग कैसा हो? उसका रस कैसे निकाले? इस विषय में स्पष्ट उल्लेख है कि शुंग हरा भरा व कृमि रहित हो। हराभरा होने से ही रस प्राप्त हो सकेगा। कृमियाँ अनेक रोगो का कारण होती हैं। फल को भूमि पर न रखने का विधान किया गया है। भूमि पर स्थित धूलि में अनेक रोगोत्पादक कीटाणु होते हैं। सील व लोटे को भली भाँति प्रक्षालित करने का

1. पा0गृ0सू0 1.14.2, बौ0गृ0सू0-1.9.1
2. गो0गृ0सू0-2.6.1, जै0गृ0सू063, द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 2.2.17
3. सं0वि0वि0- अत्रिदेव गुप्त, पृ0 55

विधान है क्योकि स्वच्छ होने से कीटाणु रहित हो सकेगा। बटवृक्ष के शुंग के रस की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता हे कि वह सौम्यतत्त्व की वृद्धि करता है और आग्नेय तत्त्व का ह्रास्य करता है। पुरुष सौम्य तत्त्व प्रधान होता है और स्त्रियाँ आग्नेय तत्त्व प्रधान। जब सौम्य तत्व की बृद्धि होगी तो पुरुष सन्तति होगी और जब आग्नेय तत्व की बृद्धि होगी तो स्त्री सन्तति होगी।

इस संस्कार के करने से गर्भिणी के ऊपर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। उसे ऐसा लगता है कि उसे मनोनुकूल सन्तति प्राप्त होगी। उसे प्रसन्नता होने से गर्भस्थ बच्चे पर सुप्रभाव पड़ता है।

आयुर्वेद में वटवृक्ष के शुंग के अतिरिक्त सुलक्ष्मणा सहदेवा, विश्वदेवी में से किसी एक को पीसकर दाहिनी नासिका में चार बूँद डालने का विधान है।[1] इसके अतिरिक्त कमल पत्र नील कमलपत्र या बरगद के कोपल का नस्य लेने का विधान है। शालीधान्य को पीसकर पिण्ड बनाकर उसे पकावें तथा भाप को सूँघे। इसे निचोड़कर पानी को रुई से नासिका में डाले। सोने या चाँदी का कोई पुरुष बनाकर दूध, दही या पानी में डालकर पुनः प्रतिमा निकाल कर इसे पी लेना चाहिए।[2]

इस संस्कार में प्रयुक्त होने वाले बटवृक्ष के शुंग के रस का विधान है यह रस गर्भपात निरोधक होता है इस विषय में सुश्रुत-संहिता का कहना है कि इस रस में ऐसा तत्व विद्यमान है जो गर्भकालीन कष्टों- निल्ली के अधिक्य एवं दाहादि के निवारण में सहायक होता है।[3]

इस संस्कार का महत्त्व उसके प्रमुख तत्वों में निहित था।-----गर्भिणी स्त्री की घाणेन्द्रिय के दाहिने रन्ध्र वटवृक्ष का रस गर्भपात के निरोध तथा पुंसन्तति के जन्म के निश्चय के उद्देश्य से छोड़ा जाता था।[4] यह कृपया निश्चित ही तत्कालीन

1. सु0सं0सू0स्था0 अ0 2
2. सं.वि.वि. - अत्रिदेव गुप्त, पृ0 58-59
3. सू0स्था0अ0 38
4. हि0स0 - डॉ0 राजबली पाण्डेय, पृ076

लोगों के आयुर्वेदीय ज्ञान का द्योतक है।

सीमान्तोन्नयन :-

'सीमन्त उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत् सीमान्तोन्नयनमिति कर्मनामधेयम्'[1] अर्थात् इसके गर्भिणी के केशों को ऊपर उठाया जाता है-ऊपर उठाने का भाव सँवारने से है। कुछ गृह्यसूत्र इसे चतुर्थ या पन्चम मास में करनीय मानते हैं।[2]

कुछ गृह्यसूत्र इसे चौथे, छठवें या आंठवें महीने में करनीय मानते हैं।[3] इस संस्कार के विधान में ऐसा विश्वास था कि जब स्त्री गर्भिणी होती है, तब उस पर अनेक विध्न बाधायें आतीं हैं,जो उसे डराकर गर्भ का विनाश कर देती हैं। अतः इन दुष्ट शक्तियों और बाधाओं से गर्भिणी स्त्री की रक्षा का उपाय सीमान्तोनयन संस्कार से किया गया है।[4] इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन है गर्भिणी की प्रसन्नता। चरक भी गर्भिणी को प्रसन्न रखने का विधान करते है।[5] आयुर्वेद के अनुसार 'गर्भ में' स्थित बच्चे का पाँचवें महीने में मन और छठवें महीने में बुद्धिं निर्मित होती है।[6] इसमें निर्माण क्रिया और सुगम बनाने के लिए इस संस्कार द्वारा स्त्री को प्रसन्नता प्रदान की जाती है। इस संस्कार का काल दोहद का भी काल कहते है। दोहद की पूर्ति अति आवश्यक है।[7] ऐसा न होने से अनेक कठिनाइयों का विधान आयुर्वेदीय ग्रन्थों में मिलता है। छठवें से आठवें महीने में ओज कभी बच्चे के भीतर समाहित होता है तो कभी माता के अन्दर। ओज जिसके अन्दर नहीं होता व उदास रहता है अतः इस उदासी को दूर करने के लिए आवश्यक है और प्रसन्नता प्राप्त होती है सीमान्तोनयन से। इस विषय में डॉ० राजबली पाण्डेय जी का कहना है कि' रुधिर नाश के लिए

1. हि०सं०- डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ078
2. बौ०गृ०सू०-1,10, आ०गृ०सू०-1.14.1, आप०गृ०सू० 14.1
3. गो०गृ०सू० 2.7.2, खा०गृ०सू० व द्रा०गृ०सू० 2.2.24, जै०गृ०सू06.20
4. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास – डॉ० जयशंकर मिश्र, पृ० 291
5. च०सं०शा०स्था०, अ० 25
6. सु०सं०शा०स्था० अ० 33
7. च०सं०शा०स्थां०, अ० 4

तत्पर कतिपय दुष्ट राक्षसियाँ पत्नी के प्रथम गर्भ को खाने के लिए आतीं हैं। पति को चाहिए कि उसके निरसन के लिए वह स्त्री का आवहान करे, क्योकि उनके द्वारा रक्षित स्त्री को उक्त राक्षसियाँ मुक्त कर देती है। ये अलक्ष्य क्रूर मांसभक्षी प्रथम गर्भकाल में स्त्री पर अधिकार जमा लेती हैं तथा उसे पीड़ा पहुँचाती है, अतः उसके भगाने के लिए सीमान्तोनयन नामक संस्कार का विधान किया गया है।[1] भूत प्रेतो को आतंकित करने के उद्देश्य से पत्नी के ऊपर एक लाल चिन्ह बनाने की परवर्ती प्रथा भी प्रचलित थी।[2]

गर्भिणी स्त्री की प्रत्येक गतिविधि का प्रभाव बच्चे पर पड़ता है अतः इसके लिए इस संस्कार के माध्यम से अनेक कर्तव्य भी निर्धारित हैं- प्रथम विश्वासपूर्ण धारणा कि अब अमंगलकारी शक्तियों का नाश हो गया। द्वितीय ऐसे नियम जो गर्भिणी स्त्री व उसके पति को अवश्य पालन करना चाहिए जैसे मैथुनराहित्य, अत्याधिक शारीरिक श्रम न करना, रात्रि जागरण व दिवाशयनवर्जन, वाहन पर न चढ़ना, भयातुर न होना, अधिक सिकुड़ कर न बैठना, कुसमय में मलमूत्र विसर्जन न करना आदि।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में इस संस्कार में गूलर का शलाट् वृक्ष की पत्तियों को गर्भिणी के शरीर में बाधनें का विधान है[3] क्योंकि ये वृक्ष गर्भपात निरोधक होते हैं।

इन सब विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि गर्भिणी स्त्री के स्वास्थ्य के लिए निहित नियम हिन्दुओं के आयुर्वेदिय ज्ञान के साक्षी है। गर्भिणी व गर्भस्थ के शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के रक्षण कार्य के लिए इस संस्कार को करने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान थी। इसी उद्देश्य के लिए गृह्यसूत्रों के गर्भिणी व पति दोनो को अलग-अलग कर्तव्यों का उल्लेख किया है। केशों को सँवार का प्रतीकात्मक रूप से इस तथ्य पर बहन किया जाता था कि गर्भ को किसी भी प्रकार की क्षति न पहुँचे।

---

1. हि०सं० पृ० 70
2. व०गृ०सू०- 16
3. सं०सं०शा०स्था० अ० 11

गर्भिणी को 'राका' व 'सुवेषा' शब्दों का सम्बोधन न उसके केशों का सँवारना इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता था।[1]

जात कर्म :-

मनु का कहना है कि इस संस्कार को नालछेदन से पहले ही कर देना चाहिए।[2] 'तूर्यन्ति' पौधे माता के समक्ष रखे जाते थे।[3] इसके पीछे यह विश्वास है कि उनके अभाव में घोर मांसभक्षी भूत-प्रेत नवजात शिशु का बध कर देगें।[4] सुरक्षित प्रसव न शिशु के जीवित उत्पन्न होने पर बर्तनों को गरम करने तथा माता और शिशु को घूम से पवित्र करने के लिए कमरे में अग्नि प्रदीप्त की जाती थी।[5] बालक जब जन्म लेताहै तो उसके भीतर बाहर गन्दगी होती है। गर्भ पानी आदि से तो बाहरी सफाई हो जाती है आन्तरिक सफाई के लिए इस संस्कार की उपयोगिता है। यवादि को जल से पीसकर छानकर उसके पानी को मुख में डालने का विधान इस संस्कार में है। यव के विषय में उल्लेख मिलता है कि वह कफ जन्य विकारों को दूर करने वाला होता है।[6] अतः संस्कार में घृत और मधु का प्राशन नवजात शिशु को कराया जाता है-घृत व मधु में कफ की सफाई, बुद्धि-स्मृति-प्रज्ञा-जठराग्नि-आयु एवं शुक्र को बढ़ाने वाला होता है। साथ ही साथ आँख की रोशनी बढ़ाने शरीर की कान्ति बढ़ाने व उत्तम स्वर के लिए उत्तम माना जाता है। सुश्रुत घी के गुण का वर्णन करते हुए कहते हैं -घी सौन्दर्य का जनक है,मेघा बढ़ाने वाला तथा मधुर है। यह पोषपस्मार, शिरोवेदना, मृगी, ज्वर, अपच तथा तिल्ली का निवारक है। यह पाचन शक्ति, स्मृति, बुद्धि प्रज्ञा तेज, मधुर, ध्वनि, वीर्य व आयु का वर्धक है।[7] मधु में भी अनेक गुण

1. बौ0गृ0सू0- 1.10.4
2. म0स्मृ0 2.29
3. आप0गृ0सू0 14.14
4. मारकण्डेय पुराण (हि0स0-डॉ0 राजबली पाण्डेय पृ092 केआधार पर)
5. शां0गृ0सू0 1.25.4, पा0गृ0सू01.16.23, बौ0गृ0सू0 1.8'
6. च0सं0शू0स्था0अ0 27
7. सु0सं0शा0स्था0 अ0 45

है-मधु मधुर स्वर से युक्त कषाय, अनुरसवाला, रूक्षा शीतल, अग्नि, दीपक, वर्ण्य, स्वय और लघु है। यह शरीर को कोमलता प्रदान करता है। मेदानाशक, ऊदय को शान्ति प्रदान करने वाला,टूटे हुए अंको को जोड़ने वाला है। व्रणशोधक-व्रणरोपक, बाजीकरण, चक्षुष्य व निर्मलता प्रदान करने वाला होता है। प्रमेह, हिक्का, श्वास, कास, अतिसार, वमन, वृष्वारा, क्रिमि व विष को नष्ट करने वाला होता है।[1] इस निर्णय में यही भाव चरक भी प्रकट करते हैं।[2] घृत व मधु को स्वर्णशलाका पर रख कर प्रयोग करने का विधान है। स्वर्ण के भी अनेक गुण है स्वर्ण के प्रभाव से शरीर पर रोगों, कीटाणुओं व विष का प्रभाव कम पड़ता है। आयुर्वेद में इसी लिए स्वर्ण का बरक बनाकर मधु में मिलाकर बच्चों को देने का विधान है।

अन्नप्राशन :-

शिशु को ठोस अन्न प्रदान करने का यह संस्कार है। गृह्यसूत्र इसे जन्म से छठे महीने में करने का विधान करते है।[3] स्मृतियों का भी यह अभिमत है।[4] यही विकार आयुर्वेदीय ग्रन्थों का भी है। भोजन किसी भी प्रकार का हो यह बात सदा ध यान में रखना चाहिए कि वह शिशु के लिए स्वास्थ्यवर्धक हो। सुश्रुत कहते है षटमाससंन्चैतमन्नं प्राशयेल्लघु, हितञ्व।'[5]

एक निश्चित समय पर बालक को माँ के स्तन से अलग कर दिया था ऐसे समय पर उसे अन्न की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसकी पूर्ति इस संस्कार के द्वारा की जाती है। इसे माता व पिता की स्वेच्छा पर नहीं छोड़ा जाता था,क्योकि उचित समय पर अन्न नहीं मिला तो बालक के विकास में व्यवधान होगा । अनाड़ी माँ

1. सं.वि0वि0-अत्रिदेव गुप्त- पृ0 71
2. च0सं.शा0स्था0 अ0 8
3. गो.गृ.सू. पृ0 403, आ0गृ0सू0 1.16, पा0गृ0सू0 1.19.2, शा0गृ0सू0 1.27, बौ0गृ0सू0-2.3, मा0गृ0सू0 1.27
4. म0स्मृ0 2.34, भा0स्मृ0 1.12
5. सु0सं0शा0स्था0 अ0 10.64

शिशु के प्रति स्नेह के कारण बहुत लम्बे समय तक उठे स्तन पान पर आधारित रखती थी, अतः माता की शक्ति का व्यर्थ नाश व शिशु को उचित आहार न मिलना- दोनो स्थितियाँ रहती थी यह संस्कार दोनो को चेतावनी देता है।[1]

निष्क्रमण या चन्द्रदर्शन :-

पहली बार घर से बाहर निकल निष्क्रमण है। धीरे-धीरे शिशु की शारीरिक क्षमता बढ़ती रहती है अतः घर का बन्द वातावरण उसके लिए अपर्याप्त महसूस होने लगता है अतः ऐसी स्थिति में उसे घर से बाहर ले जाना आवश्यक था।डा0 मिश्र का कहना है कि जन्म से एक निश्चित अवधि के बाद जब सन्तान को पहली बार घर से बाहर निकाला जाता था तब वह निष्क्रमण कहा जाता था।[2]

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में भी इस संस्कार के विषय में उल्लेख प्राप्त होते हैं। उनकी दृष्टि में शिशु को घर से बाहर निकाल कर कुमारागण में ले लाया जाता था। कुमारागार का वातावरण उसकी बनावट बच्चों के खिलौने उनके वस्त्र व विस्तरे उनके विविध मणियाँ धारण कराना उनका शारीरिक व मानसिक विकास आदि अनेक कार्य निष्क्रमण है।

रात्रि के शीतल वातावरण में बालक को घर से बाहर ले जाकर चन्द्रदर्शन कराना विविध संकटो को दूर करने के लिए प्रार्थना दैवव्यपाश्रय चिकित्सा भी कोटि में आता है। धीरे-धीरे शिशु में ऐसी शारीरिक क्षमता उत्पन्न हो जाती है कि वह चाले रात हो या दिन बाह्य वातावरण में जा सकता है। इस संस्कार द्वारा इसी क्षमता का क्रमशः विकास सम्भव था।

अतः निष्कर्षतः हम यह कह सकते है कि इस संस्कार का उद्देश्य बालक को शुद्ध वायु में भ्रमण कराना है। शुद्ध वायु स्वास्थ्य के लिए परमावश्यक है।

1. हि0स0- डॉ0 राजबली पाण्डेय - पृ0 118
2. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास- डॉ0 जयशंकर मिश्र, पृ0 294

नामकरण :-

व्यक्ति के सम्बोधन के लिए नाम परमावश्यक है। भाग्य, शुभ आदि को हम नाम के आधार पर अवलोकित करते हैं। गृह्यसूत्रों में नामाकरण प्रक्रियानुसार ही आयुर्वेद में नामकरण विहित है।[1]

नामाकरण के समय के विषय में पर्याप्त विकल्प मिलते हैं। गृह्यसूत्रों के सामान्य नियम के अनुसार नामकरण शिशु के जन्म के बाद दशवें या बारहवें दिन करना चाहिए।[2] एक आचार्य के मत में नामकरण दशवें, बारहवें सौवें अथवा प्रथम वर्ष समाप्त होने पर करना चाहिए।[3] इस विस्तृत विकल्प के विषय में डॉ0 पाण्डेय का कहना है कि इस ब्यापक विकल्प का कारण परिवार की सुविधा तथा माता व शिशु का स्वास्थ था।[4]

नामकरण प्रसंग में नामकरण के विविध आधार बतलायें गये हैं उनका भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोंण से तो महत्त्वदृष्टिगत होता है, परन्तु आयुर्वेद की दृष्टि से क्या महत्व है? इसका हल नहीं मिला।

चूडाकरण :-

इस संस्कार का उद्देश्य जन्म के बालो को दूर करना होता है जिससे बालक आरोग्य प्राप्त कर सके। इस संस्कार द्धारा शिर को स्वच्छ रखा जाता है, अगर शिर स्वच्छ न रखा जाय तो खुजली आदि अनेक समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं। आश्वलायन के अनुसार संस्कार्य व्यक्ति के लिए दीर्घ आयु सौन्दर्य तथा कल्याण की प्राप्ति इस संस्कार का प्रयोजन था।[5] आयुर्वेदीय ग्रन्थों से भी चूडाकरण के इस

---

1. च0सं0शा0स्था0, अ0 8
2. शा0गृ0सू0 1.24.4, आ0गृ0सू0 1.15.4, पा0गृ0सू0 1.17, आ0गृ0सू0 1.5-2
3. गो0गृ0सू0(परिशिष्ट)
4. हि0स0- डॉ0 राजबली पाण्डेय, पृ0108
5. आ0गृ0सू0- 1.17.12

धर्मशास्त्रोक्त प्रयोजन की पुष्टि होती है। केश, नाखून तथा रोम अथवा केशों के अपकार्जन अथवा छेदन से हर्ष,लाधव,सौभाग्य और उत्साह की वृद्धि तथा पाप का शमन होता है।[1] इस विषय को चरक भी कहते हैं केश, मश्रु तथा नखों के काटने तथा प्रसाधन से पौष्टिकता, बल, आयुष्य, शुचिता और सौन्दर्य की प्राप्ति होती है।[2] इससे यह स्पष्ट है कि इस संस्कार के मूल में स्वास्थ्य व सौन्दर्य के भाव निहित थे।

गृह्यसूत्र इस संस्कार को प्रथम या तृतीय वर्ष में करने का विधान करते है निश्चित ही कम वय में इस संस्कार को करने से अनेक अनिष्ट होने की सम्भावनायें रहती है। तीन वर्ष की उम्र होते होते बच्चे शिर की अस्थियों को जोड़-पूर्ण रूपेण भर जाते हैं। इस सम्बन्ध में सुश्रुत कहते हैं-मस्तक के भीतर ऊपर की ओर शिरा तथा सन्धि का सन्निपात है। वही रोभावर्त में अधिपति हैं। इस अंग को किसी भी प्रकार का आघात लगने पर तत्काल ही मृत्यु हो जाती है।[3] अतः इसी कारण गृह्यसूत्रों में तीन वर्ष तक के समय के विधान मिलते हैं।

इस संस्कार में मुण्डन करते समय शिर को आर्द्र करने का विधान है, इससे मुण्डन क्रिया सरल व सुविधा जनक हो जाती है गोबर में केशों के छिपाने के विधान का तात्पर्य है केशों के माध्यम से कोई किसी भी प्रकार का अभिचारिक कर्म न कर दे। इस संस्कार का महत्व पूर्ण कृत्य है शिखा की व्यवस्था। शिखा कुल की व्यवस्थानुसार रखी जाती थी।[4] ऊपर जो अस्थियों के जोड़ की चर्चा की गई उसका भाव यहाँ भी लिया जा सकता है। वास्तव में शिर की अस्थियाँ के जोड़ का जो केन्द्र बिन्दु है वह वही स्थान है जहाँ शिखा रखी जाती है, अतः शिखा रख कर

1. सु0सं0चि0स्था0 24.72
2. "पौष्टिकं बृष्यमायुष्यं शुचिरूपं विराजमनम्।
   केशमश्रु नरवदीनां कर्त्तनं सम्प्रसाधनम्।।
3. सु0सं0शा0स्था0अ0 6.83
4. आ0गृ0सू0 1.17

हम आजीवन उस कोमल स्थान की रक्षा करते हैं।

चूडाकरण में माँ का रजस्वला होना अकल्याणकारी माना जाता है- विवाह में माता राजस्वला हो तो नारी विधवा हो जाती है यज्ञोपवीत में विद्यार्थी जड़ हो जाता है तथा चूडाकरण में शिशु की मृत्यु हो जाती है- इसलिए माता का रजस्वला अकल्याणकारी है। निश्चित ही राजस्वला होने की स्थिति में माता अर्धरुग्ण होती है, अतः इस संस्कार में योगदान देने से निषिद्ध की गई है।

कर्ण वेध :-

वैसे कर्ण छेदन क्रिया अलंकरण काल के लिए प्रारम्भ हुई परन्तु वह वैज्ञानिक क्रिया है। सुश्रुत इस विषय में कहते हैं कि रोग आदि से रक्षा तथा भूषण या अलंकरण के निमित्त बालक के कानों का छेदना चाहिए।[1] विविध विद्वानो ने इस संस्कार के लिए बालक की विविध आयु का निर्देशन करते हैं। कात्यायन गृह्यसूत्र इस संस्कार के उपयुक्त समय के रूप में शिशु के तृतीय या पंचम वर्ष का विधान करते हैं।[2] उम्र जितनी कम होगी कर्णवेध में बालक को उतना ही कम कष्ट होगा। इसलिए सुश्रुत षष्ट अथवा सप्तम् मास को अधिक उपयुक्त मानते हैं।[3] इनका अभिमत है कि कर्ण वेध के पश्चात रूई के धागे से अथवा वार्तिका के द्वारा छिद्रो में तेल छोडना चाहिए।[4]

वैसे आजकल यह देखने मे आता है कि आयुर्वेद चिकित्सक इस्नोफीलिया, अस्थमा, अण्डकोष वृद्धि आदि रोगों के निवारण के लिए कर्ण छेदन की क्रिया करते हैं जो तत्कालीन सोच का परिणाम मानी जा सकती है।

उपनयन :-

युवावस्था में प्रवेश होते ही समाज में प्रवेश के अवसर विशेष प्रकार के

1. सु०सं०शा०स्था० अ० 16.1
2. पा०गृ०सू० परिशिष्ट 1
3. सु०सं०शा०स्था० अ० 16.1
4. वही

हर्षोल्लास हर समाज में प्रचलित हैं-कुछ इसी प्रकार का यह संस्कार है। यह अत्यन्त प्राचीन संस्कार है। उपनयन विद्याध्ययन का प्रवेश द्वार है। आचार्य द्वारा निश्चित शर्तो की पूर्ति करने पर ही ब्रह्मचारी आश्रम में प्रविष्ट किये जाते थे। विद्या सन्देह शील व अशिष्ट विद्यार्थी को नहीं दी जाती थी, अनन्य भक्त और सर्वगुण सम्पन्न छात्र ही इसका अधिकारी है।

गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित तथा परवर्ती द्वारा अनुमोदित साधारण नियम यह था कि ब्रह्मण का उपनयन आठवें वर्ष, क्षत्रिय का ग्यारहवें और वैश्व का बारहवें वर्ष में करना चाहिए।[1] यह समय निर्धारण बौद्धिक योग्यता के आधार पर निश्चित किया गया था। इस संस्कार में ब्रह्मचर्य पालन का उपदेश दिया था। ब्रह्मचर्य की महिमा सर्वविदित है। आयुर्वेद भी शरीर के तीन स्तम्भों में ब्रह्मचर्य को स्थान देता है। 'श्रमः उपस्तम्भाः शरीरस्य आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यामिति।'[2]

इस संस्कार में ब्रह्मचारी को दण्ड धारण करना निर्देशित किया गया है। आयुर्वेद दण्डधारक की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है- दण्डधारक मनुष्यों को गिराने से बचाता है, लड़ाई-झगड़ा होने पर शत्रुओं को नष्ट करता है, शरीर का सहायक होता है, आयु के लिए हितकर तथा भय को दूर करने वाला होता है।[2] इस संस्कार में दिवाशयन वर्जित किया गया है जो आयुर्वेदीय धारण पर अबलम्बित है।[4] इस संस्कार में एक स्थल पर ब्रह्मचारी के नाभिप्रदेश के स्पर्श का विधान है और उसे प्राणों की ग्रान्थि कहा गया है। सुश्रुत भी कहते हैं-'नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः'।[5]

इस संस्कार में नियमों का उपदेश करते समय तीन दिन तक क्षार व लवण

---

1. पा0गृ0सू02.2, आ0गृ0सू0 1.19, शां0गृ0सू0 2.1, बौ0गृ0सू0 2.5, आव0गृ0सू0 1.1, गो0गृ0सू0 2.10
2. च0सं0सू0स्था0 अ0 11.35
3. वही अ0 5
4. वही अ0 21
5. सु0सं0शा0स्था0अ0 7

रहित भोजन करने का विधान है। यह उपदेश संकेतात्मक है। क्योकि क्षार व लवण का अधिक सेवन अस्वास्थ्यकर होता है। क्षार के अधिक सेवन से केश, दृष्टि, हृदय और प्रंशत्व शान्ति नष्ट हो जाती है। इससे अन्धापन, नपुसंक, स्वलित्य और जैसे रोग हो जाते है।[1] इसलिए क्षार का निषेध तथा भविष्य में अधिक सेवन को रोकने का संकेत है। क्षार ही नहीं अपितु लवण का भी अधिक प्रयोग हानिकार है। लवण का अधिक सेवन करने से पित्त का प्रकोप रुधिर का अधिक वेग, पिपसा, मूर्क्ष शारीरिक ताप में वृद्धि, त्वचा का निदीर्ग होना, मांस पेशियों में विकार आना, कुष्ठ रोग, मांस पेशियों में विकार आना, कुष्ठरोग, मांस पेसियों का गलना, विषवृद्धि दांतो का गिरना, पुंसत्व का नष्ट होना, इन्द्रियों का शिथिल होना, असमय झुर्रियों का पडना, बाल गिरना, विवधि प्रकार के पित्त का विकार होना, वातरक्त आदि व्याधियों की उत्पत्ति होती है।[2]

उपनयन को 'व्रतबन्ध' के नाम से भी अभिहित किया जाता है, मेरी दृष्टि में ब्रह्मचारी नैतिक मूल्यों (व्रत) के पालन के लिए बाँधा जाता है। इस संस्कार में त्रिरात्रि व्रत का भी विधान है।[3] यह व्रत तीन रात्रि, बारह दिन, या एक वर्ष का भी हो सकता है। इस अवधि में उसे अपने जीवन को कठोर-संयम में बाँधना पड़ता था। क्षार लवण रहित भोजन, भूमिशयन, दिवाशयन वर्धन आदि अनेक विधान है। दिन में शयन तो आयुर्वेद भी वर्जित करता है। इस व्रत के अन्त में बुद्धि, स्मृति तथा प्रज्ञा को तीक्ष्ण बनाने के लिए मेघा जनन की विधि सम्पन्न की जाती थी।[4]

इस प्रकार उपनयन विद्यार्थी जीवन के आरम्भ में होने वाला एक सजीव संस्कार था। वह पूर्ण व कठोर अनुशासन के जीवन में प्रवेश करता था। यह संस्कार

1. च0सं0सू0स्था0अ01
2. च0सं0सू0स्था0 अ0 26
3. आ0गृ0सू0 1.22.12, हि0गृ0सू0 1.8.16
4. भा0गृ0सू0-1.10

इस तथ्य का प्रतीक था कि विद्यार्थी ज्ञान के असीमित पथ का पथिक है।

समावर्तन :-

समावर्तन को स्नान नाम से भी अभिमूत किया जाता है। यह संस्कार गृहस्थ्याश्रम में प्रवेश का द्वार है। समावर्तन शब्द का अर्थ है- वेदाध्ययन के अनन्तर गुरुकुल से घर की ओर प्रत्यावर्तन। कूट, जटामांसी, हल्दी, बच, शिलाजीत, लाल चन्दन, कर्पूर और भद्रमुस्ता[1] आदि औषधियों को जल से मिलाकर स्नान कराया जाता था। ये औषधियाँ अनेक चर्म विकारों को दूर कर मन को प्रसन्न रखता है। स्नान के अनेक गुण आयुर्वेदीय ग्रन्थों में कहे गये हैं -

''पवित्रं कृष्यमायुष्यं श्रमस्वेदामलापहम्।''

शरीर बल सन्धानं स्नानभोजस्करपरम्।।''[2]

स्नान करने से शरीर में पवित्रता आती है। स्नान से शुक्र की वृद्धि होती है। स्नान आयु के लिए हितकर होता है। यह श्रम स्वेद और मल को दूर करता है। शरीर में बल और ओज को बढ़ाने वाला होता है।

इस गौरवमय स्नान के पश्चात् ब्रह्मचारी मेंखला मृग चर्म तथा दण्ड आदि समस्त वाह्य चिन्हों को जल में फेक देता है तथा एक नवीन कौपीन धारण करता है। कुछ दधि और तिल का भोजन कर वह अपनी दाढ़ी, केश, तथा नखों को कटवाता है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में केश, श्मश्रु, नखादि के कटवाने के अनेक लाभों का वर्णन किया गया है।[3] अर्थात केशादि के कटवाने और उनकी सजावट करने से शरीर पुष्ट होता है। यह कामोद्दीपक और आयु के लिए हितकर, पवित्रता को उत्पन्न करने वाला और स्वरूप को निखारने वाला होता है।

इस संस्कार में उदुम्बर वृक्ष की टहनी से दन्त धावन का विधान है इस टहनी

---

1. *द्रा0गृ0सू0 व खा0गृ0सू0 2.1.6, गो0गृ0सू0-3.4.10*
2. *च0सं0सूं0स्था0 अ0 5*
3. *वही*

से दातून दाँतों को शक्ति प्रदान करता है तथा दन्त कीटाणुओं को विनष्ट करती है, ऐसी लोकविश्रुति है।

ब्रह्मचारी अभी तक धुले हुए बिना रंगे वस्त्रों को पहनता था, पुष्प तथा मालाधारण उसके लिए निषिद्ध था। आभूषण अन्जन, कर्णपूर, उष्णीय छत्र, उपनाह और दर्पण उसके लिए वर्जित थे, लेकिन इस संस्कार में उसे विधिवत् धारण कराये जाते थे। उसे एक छड़ी भी इस अवसर पर प्रदान की जाती थी।[1] आभूषण, सुगन्धित, मालादि के धारण करने से प्रसन्नता बढ़ती है, और प्रसन्नता अच्छे स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। जूतों से पैरों की रक्षा होती है। छत्र धारण से अनेक लाभ हैं- 'छत्र धारण करने से भावी रोगों की शान्ति होती है, बलबृद्धि होती है और भूत प्रेतादि से रक्षा होती है। यह शरीर का आवश्यक व कल्याणकारी होता है। इसके धारण करने से धूप,हवा, धूलि और जल से रक्षा होती है।[2]

इस संस्कार के जो पालनीय नियम बतलाये गये है वे आयुर्वेद के 'सद्वृत्त' ही है।[3]

इस संस्कार के यह सूचित हो रहा है प्राचीनकाल में विद्वानों को उच्च सम्मान प्राप्त था। गृह्यसूत्रों में उद्वघृत ब्राह्मणों के एक वचन से यह विदित होता है कि स्नातक को एक महद्भूत अथवा शक्तिशाली व्यक्ति समझा जाता था।[4]

आजकल इस संस्कार को अत्यन्त संक्षिप्त कर दिया गया है,उपनयन अथवा विवाह के अवसर पर इस स्नान का उपयोग अत्यन्त सूक्ष्म रूप में बिना मन्त्र के ही होता है। इसी अवसर पर बिना मन्त्रों के ही अलंकारों को भी धारण कराया जाता है।

1. आ0गृ0सू0- 3.8
2. सु0सं0चि0स्था0अ0 24
3. चं0सं0सू0 स्था0अ0 8
4. आ0गृ0सू0 3.9.8

अन्त्येष्टि :-

हिन्दुओं का यह अन्तिम संस्कार है इसके बाद परलौकिक जीवन का प्रारम्भ होता है। मृत्यु के बाद आत्मा इस शरीर से पृथक हो जाता है, वैसे स्वप्न में भी आत्मा शरीर से पृथक हो सकता है लेकिन स्वप्न के बाद पुनः शरीर में वापस लौट आता है, लेकिन मृत्यु के बाद होने वाला पार्थक्य अन्तिम होता है। यदि मृत्यु के बाद आत्मा की विदाई न की जाय तो वह परिवार को क्षति पहुँचा सकता है, इस लिएगृह्यसूत्रों में औपचारिक विदाई का सम्बोधन किया जाता है।[1]

दाह क्रिया शरीर की अन्तिम आवश्यकता होती है। दीर्घकाल काल तक शव को रखना असम्भव है, क्योकि देह में गलन उत्पन्न होती है, शरीर सड़ने लगता है और विविध प्रकार की बीमारियाँ सम्भव है इसके अतिरिक्त मृत व्यक्ति के रोग और मृत्यु से परिवार में अपवित्रता तथा संक्रामक रोगो का प्रसार भी सम्भव है अतः उनके निराकरण के लिए यह संस्कार आवश्यक है। इसी अनिवार्यता के कारण इस संस्कार का अत्यन्त दीर्घकालीन इतिहास है क्योकि ऋग्वेद और अथर्ववेद[2] में इसका उल्लेख पाया जाता है।

दाह-क्रिया के बाद अवशिष्ट अस्थियों को जमीन में गाड़ने का विधान गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होता है।[3] इसके पीछे यही भावना है कि अगर लोगों की अस्थियाँ इधर उधर बिखरी होगी तो इससे वातावरण में अशुद्धि फैलेगी और लोगों का जीवन इससे प्रभावति होगा। संक्रामक रोगो से मृत व्यक्ति का शव जल में डुबा दिया जाता था, इसके पीछे लोगों की यह अवधारणा थी कि दाह की अग्नि में व्याप्त होने के पूर्व ही रोगोत्पादक कीटाणु बाहर निकल जाते हैं और लोगों को प्रभावित करते है, जल में विसर्जित करने से वे उसी में नष्ट हो जाते हैं। यह क्रिया करके दाह कर्ता

1. पा०गृ०सू० 3.10.24
2. ऋग्वेद - 1.2.3-4, अथर्ववेद - 18.2-34
3. आ०गृ०सू० 4.5

व अन्य जन घर के द्वार पर नीम की पत्तियाँ चबाते हुए, अपना दुःख व्यक्त करते आदि, गोबर आदि का स्पर्श करते, विशेष लकड़ियों का धुआँ लेते पत्थर पर चलते तब घर में प्रविष्ट होते हैं।[1] इन सबके पीछे यही वैज्ञानिक तथ्य है कि पैरों में लगे किसी भी प्रकार के रोगोत्पादक कीटाणु न रह जाँय।

अन्त्येष्टि विषयक पद्धतियों में पिण्डदान बडी महत्व पूर्ण क्रिया है। दाह के पश्चात् बारहवें दिन तक प्रत्येक दिन विशिष्ट प्रयोजन के लिए पिण्डदान किए जाते है ये प्रयोजन वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है। इसके सम्पूर्ण शरीर निार्मण की प्रक्रिया द्योतित की गई है। प्रथम दिन क्षुधा और तृषा को तृप्त करने तथा उसके भावी शरीर की रक्तनलियों के निर्माण के लिए एक मात्र का पिण्ड, पानी का एक घड़ा तथा अन्य खाद्य पदार्थ देना चाहिए। आसन के लिए कुश, लेप, पुष्प और सुगन्धित पदार्थ तथा दीपक भी मृतक के लिए बाहर रख देना चाहिए। दूसरे दिन मृतक के श्रवण, नेत्र और प्राण के निर्माण के लिए पिण्डदान किया जाता है। तीसरे दिन गले, कन्धे, बाहु और वक्ष स्थल के निर्माण के लिए और इसी प्रकार नवें दिन तक मृतक के विविध अंगों के निर्माण के लिए पिण्डदान दिये जाते है। जब कि मृतक का देह पूर्ण हो जाता है। दशवें दिन जीवित सम्बन्धियों के केश, श्मश्रु और नख काटे जाते है और मृतक की प्रेतदशा के निवारण के लिए मृतक और यम को पिण्डदान किया जाता है। ग्यारहें दिन अनेक क्रियायें होती है।[2] इस संस्कार में सम्पूर्ण क्रियायें मृत्यक के विषयोपभोग सुख सुविधाओं के लिए की जाने वाली प्रार्थनाओं से युक्त है।

---

1. पा०गृ०सू० 3.10.24
2. पा०गृ०सू० 3.10 (गदाधार द्वारा उद्धृत)

अध्याय चतुर्थ
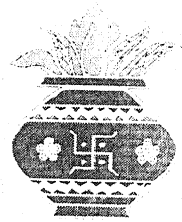
चतुर्थ अध्याय

संस्कारों में प्रयुक्त मन्त्र आयुर्वैज्ञानिक दृष्टि में

सम्पूर्ण वैदिक कार्य मंत्रों से युक्त हैं। आर्यो को मंत्र की महाशक्ति प्राप्त थी। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय मन्त्रमय हैं। इसीलिए तो 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' कहा गया है। आर्यो के मनन के माध्यम मंत्र ही तो थे। मन्त्र का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी यही है, क्योंकि मन् धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय करने पर मंत्र शब्द सिद्ध है। गृह्यसूत्र कल्प नामक वेदांग के अन्तर्गत आते हैं। गृह्यसूत्रों में गृह्यकर्म हैं और गृह्यकर्मो का सम्पादन मन्त्रों के माध्यम से किया जाता है। विद्वानों ने मन् धातु के तीन अर्थ किए हैं।[1] ज्ञान अर्थ में विचार अर्थ में और सत्कार अर्थ में। इन तीनों की चर्चा भूमिका में की जा चुकी है। वैदिक कार्य के प्रेरणास्वरूप भी मंत्र है। वैदिक कर्मकाण्डों के सर्वप्रथम विशद वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में है। उन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों में विहित अर्थो के आदि श्रोत हैं मन्त्र – "विहितार्थाभिधायको मन्त्रः"[2] सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्डों के आधारभूत हैं मन्त्र।

मानव मस्तिष्क की ग्राह्यशक्ति जब धीरे-धीरे क्षीण होने लगी तो तब अविभाज्य[3] मन्त्रों का विभाजन से किया गया है। सर्वप्रथम 'वेदत्रयी तत्पश्चात् चतुर्धा विभाजन[4] हुआ।

मन्त्रोच्चारणार्थ विविध अपेक्षायें :-

प्रत्येक वैदिक कर्मकाण्ड मन्त्रों पर आधृत हैं। मनन के माध्यम ये मन्त्र सामान्य उच्चारणीय नहीं है। कर्मकाण्डों के विनियोग के अवसर पर उच्चार्यमाण मन्त्रों को विविध अपेक्षायें होती हैं। वे सामान्य श्लोक की तरह उच्चारण नहीं किये जाते।

---

1. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास –.डॉ० वाचस्पति गैरोला– पृ0 27
2. जै0न्या0मा0वि02.1.22
3. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास – डॉ0 गैरोला पृ0 29
4. ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद

विद्वानों ने मन्त्र को देवताओं का शरीर कहा है।[1] 'इसीलिए बिना अर्थज्ञान के उच्चारण नहीं करना चाहिए। वैदिक मन्त्रों का अर्थज्ञान कठिन कार्य है, क्योंकि मन्त्रों के अनेक अर्थ हैं। मन्त्रार्थ के लिए देवता, ऋषि, स्वर, छन्द और विनियोग ज्ञान परमावश्यक है।

मन्त्रार्थ के लिए प्रथम आवश्यकता है – दैवतज्ञान। बिना देवताज्ञान के मन्त्रार्थ नहीं किया जा सकता। किस मन्त्र का विनियोग किस देवता के लिए करें इसका निर्धारण देवताज्ञान पर ही आधृत है। संहिताओं में सूक्त देवता विशेष या देवसमूह के लिए कथित हैं। अग्नि के लिए प्रयुक्त मन्त्र का विनियोग अगर विष्णु इन्द्रादि देवताओं के लिए करें तो अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती है। अतः दैवतज्ञान अनिवार्य है। बिना इसके मन्त्रार्थ पूर्ण नहीं हो सकता। बृहद्देवता नामक ग्रन्थ में दैवतज्ञान के विषय में कहा गया है

न हि कश्चिदविज्ञाय यथातथ्येन दैवतम्।
लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मणां फलमश्नुते।।[2]

अर्थात् यदि कोई यथानुरुप देवताज्ञान करके लौकिक या वैदिक कर्मो के करता है तभी वह फल प्राप्त करता करता है। इसीलिए दैवतज्ञान प्रथम आवश्यक शर्त है मन्त्रार्थ के लिए। प्रत्येक मन्त्र में प्रयत्न करके देवता ज्ञान कर लेना चाहिए। क्योंकि बिना दैवतज्ञान के विनियुक्त मन्त्र निष्कल होता है और बिना दैवत ज्ञान के मन्त्र का वास्तविक अर्थ नहीं निकलता। जब हम दैवतज्ञान पूर्वक मन्त्रोच्चारण करते हैं तो उस देवता के प्रति अटूट श्रद्धा जागृत होती है। व्यक्ति का उस देवता के प्रति समर्पितभाव बनता है और तद्नुरूप फलों की प्राप्ति होती है। मन्त्रों की भाषा से देवताओं के विषय में निश्चित रूप से हमें यह पता लगता है कि न केवल एक ही देव के

---

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति – आचार्य बल्देव उपाध्याय – पृ0 517
2. बृ0दे0 1.4

भिन्न-भिन्न नाम हैं किन्तु साथ ही उस देव के भिन्न-भिन्न रूप, शक्तियाँ और व्यक्तित्व भी है वेद का एक देवता वाद विश्व की अद्वैतवादी सर्वदेवता वादी और यहां तक कि बहुदेवतावादी दृष्टियों को भी अपने अन्दर सम्मिलित कर लेता है। इस प्रकार मन्त्र व देवता एक दूसरे के पूरक हैं। मन्त्रार्थावबोध व मन्त्रोच्चारणार्थ द्वितीय आवश्यकता ऋषिज्ञान की है, बिना ऋषिज्ञान के अर्थावबोध नहीं होता और बिना अर्थावबोध के फल की प्राप्ति नहीं होती है। पं0 वीरसेन वेदश्रमी जी ने ऋषि के विषय में कहा है कि 'ऋष्यादि ज्ञाने धर्मः'[1] ऋषि ही मन्त्रों के द्रष्टा हैं 'ऋषयों मन्त्रदृष्टारः'। ऋषि शब्द का अर्थ है ज्ञान, चिन्तन आदि। 'ऋषयों मन्त्र दृष्टारः': का यही अर्थ है कि बिना, ज्ञान तर्क व चिन्तन के मन्त्रार्थावबोध नहीं हो सकता। ऋषि व्यर्थ है ठीक उसी प्रकार ऋषिज्ञान के बिना मन्त्रार्थ असम्भव है।

मन्त्रों के अर्थज्ञान के लिए स्वरज्ञान परमावश्यक है। स्वरज्ञान मन्त्रोच्चारण के लिए भी आवश्यक है। वैदिकस्वर उदात्त, अनुदात्त और स्वरित हैं। स्वरज्ञान से सम्बन्धि त एक कथा वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध है-कहते हैं वृत्तासुर ने इन्द्र को मारने के लिए एक यज्ञ किया था। उस यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्र का एक भाग था 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व'। इस मन्त्रांश में षष्ठी तत्पुरूष समास से अभीष्टफल की प्राप्ति सम्भव थी। तत्पुरूष अन्तोदात्त होना चाहिए। ऋत्विजों ने भूलवश अन्तोदात्त की जगह आद्युदात्त उच्चारण किया, फलतः तत्पुरूष की जगह बहुब्रीहि समास हो गया, परिणामतः यज्ञकर्ता वृत्तासुर स्वयं मारा गया। पाणिनीय शिक्षा ने इस विषय में कहा है-

''मन्त्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तेन तमर्थमाह।
स वाग्बज्रो यजमानं हिनास्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।[3]

इतना ही नहीं सम्यक् वर्णप्रयोग से ब्रह्मलोक में भी प्रतिष्ठा प्राप्त होती

1. वै0सं0- पं0 वीरसेन वेदश्रमी पृ0 12
2. पा0शि0पृ0 52 (शिक्षा संग्रह के आधार पर)

है। 'सम्यक्वर्ण प्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते'।[1]

शुद्धमन्त्रोच्चारण ऋत्विक् एवं यजमान दोनों का कल्याण करता है। इस विषय में कहा गया है-

"अशुद्धपठनात्............भवेद्विजः।"[2]

"अन्यथा.............दारूणम्"।[3]

जिस प्रकार शुद्ध मन्त्रोच्चारण से कल्याण होता है उसी अशुद्ध पठन से महान दारूण कुम्भीपाक नरक की भी प्राप्ति होती है।

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीन स्वरों के संयोग से चार अन्य स्वरों की उत्पत्ति होती है- एकश्रुति, प्रचय, अनुदात्ततर और उदात्ततर। इस प्रकार वैदिक स्वरों की संख्या सात हो जाती है।[4] गायन के सातस्वरों के उद्गम का भी यही आधार है। उदात्त अनुदात्त और स्वरित के उच्चारण के समय हस्तचालन क्रिया वैदिकों में प्रसिद्ध है। स्वरों का उचित उच्चारण करने वाला वेदाध्येता वेदत्रयी से पवित्र होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।[5] एक ही स्वर का उदात्त अनुदात्त और स्वरित तीनों रूपों में उच्चारण किया जा सकता है। उच्चारण स्थान से नीचे की ओर जब उच्चारण किया जाता है तब वह स्वर 'अनुदात्त' होता है।[6] प्रयत्न को जब हम उर्ध्वगामी करते है वह 'उदात्त' होता है।[7] जब हम उच्चारण स्थान के मध्यभाग से उच्चारण करते हैं तो वह 'स्वरित' होता है।[8] इन स्वरों के उच्चारण के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है। वेदश्रमी जी इस विषय में कहते है कि हस्त कण्ठ एवं प्राण इन तीनो के साहचर्य

1. पा०शि०पृ० 31 (शिक्षा संग्रह के आधार पर)
2. पाराशरी शिक्षा - का०नं० 13 (शिक्षा संग्रह केआधार पर)
3. वही - का०नं० 14
4. वै०सं०- पं० वीरसेन वेदश्रमी पृ० 31
5. याज्ञ०शि० - का०नं० 45 (शिक्षा संग्रह के आधार पर)
6. 'नीचैरनुदात्तः' अष्टाध्यायी 1.2.29
7. 'उच्चैरुदात्तः' - अष्टाध्यायी - 1.2.30
8. 'समाहारः स्वरितः' - अष्टाध्यायी 1.2.31

से उत्पन्न उदात्तादि जो गति,कम्पन एवं गुञ्जन शरीर के अन्दर इसकी नाडियों में अन्दर करते हैं वे मन्त्र के स्वर अक्षर एवं छन्द के अनुसार होते हैं। अतः स्वर सहित मन्त्रोचारण का प्रभाव सूक्ष्म रूप से अवश्य पड़ता है। वही ध्वनि ब्रह्मरूप में भी व्याप्त होती है। इस प्रकार शरीर का और बाहर का वातावरण मन्त्र के अक्षर,स्वर एवं छन्द से संस्कारित होता है। मन्त्र से संस्कारित वातावरण होने पर विशेष पवित्रता वातावरण की हो जाती है और उस पवित्र वातावरण के माध्यम से विविध तत्त्वों में वृद्धि, ह्रास आदि करके तथा विश्व के मानस क्षेत्र को प्रभावित करके अपनी कामनाओं की पूर्ति की जा सकती है। अतः स्वर सहित तथा अत्यन्त शुद्धता से वेद-मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिए।[1]

मन्त्रार्थावबोध के लिए मन्त्रों के छन्दों का भी ज्ञान आवश्यक है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में छन्द से विरहित शब्द को स्वीकार नही किया है-

'छन्दहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्दवर्जितम्।[2]

कात्यायन का यह स्पष्ट कथन है कि जो ब्यक्ति छन्द ऋषि तथा देवता के ज्ञान से हीन होकर मन्त्र का अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन करता है उसका प्रत्येक कार्य निष्फल ही होता है-

'यो हवा अविदितार्षेयच्छन्दो-दैवत-ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्ते वा पात्यते या पापीयान् भवति।[3]

स्वरों के ही आधार पर छन्दो का भेद सात प्रकार से किया जाता है। परस्पर एक दूसरे का सम्बन्ध है- षड्ज स्वर का सम्बन्ध गायत्री से, ऋषभ का उष्णिक् से, गन्धार का अनुष्टुप् से, मध्यम का बृहती से, पंचम का पंक्ति से, धैवत् का त्रिष्टुप् से एवं निषाद् का जगती छन्द से सम्बन्ध है।[4]

1. वे0स0 - पं0 वीरसेन वेदश्रमी पृ0 30   2. वही, पृ0 32
3. नाट्यशास्त्र - भरतमुनि - 14.45
3. सर्वानुक्रमणी - 1.1
4. वै.स0 - पं0 वीरसेन वेदश्रमी पृ0 30

मन्त्रार्थावबोध के लिए मन्त्र का विनियोगज्ञान भी आवश्यक है। अगर मन्त्र के विनियोग का ज्ञान न हो तो शान्ति के लिए प्रयुक्त मन्त्र का विनियोग अग्न्याधान में भी हो सकता है और उसका परिणाम होगा मन्त्र का निष्फल प्रयोग।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि देवता ऋषि स्वर, छन्द आदि के ज्ञान से ही मन्त्र का अर्थज्ञान सम्भव है। जो व्यक्ति वैदिक मंत्रों का उच्चारण तो करता है, लेकिन उनका अर्थ नहीं जानता वह भार ढ़ोने वाले ठूठ वृक्ष के समान होता है और जो अर्थ को जानता है वही समस्त कल्याणों को प्राप्त कर लेता है। अर्थज्ञान से अपने सम्पूर्ण पापों को नष्ट कर स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है-

"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्,
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते,
नाकमेति ज्ञाऩविधूतपाप्मा।।"[1]

इस सम्बन्ध में शास्त्र भी कहता है -

"स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा दैवं योगार्षमेव च।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे-पदे।।"[1]

शिक्षा ग्रन्थ भी मन्त्र के अर्थज्ञान पर बल देते है।

"गीतीशीघ्री शिरः कम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्प कण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः।।"[3]

इसमें अधम पाठक के लक्षणों में अनर्थज्ञ(अर्थज्ञान रहित) पाठक को भी अध म कोटि का माना गया है।

गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कारों में मन्त्रों का विनियोग होता है। इन मन्त्रों में

1. *निरुक्त - यास्क 1.6*
2. *वै०सा० और सं० - आचार्य बल्देव उपाध्याय पृ० 288*
3. *पा०शि० - 1.32*

भी आयुर्वेदीय सामाग्रियाँ यत्र-तत्र बिखरी स्थिति में मिलती हैं। जिनको इस प्रकार अभिक्त किया जा सकता है-

चिकित्सा में मन्त्रों की सहभागिता :-

भारतीय महार्षियों ने औषधियों के गुण दोषों को भली भाँति समझ बूझकर उन्हे रोगो को दूर करने के लिए प्रयुक्त करने का विधान किया है, वे केवल औषधियों के प्रयोग पर ही निर्भर न थे, वे औषधियों के प्रयोग के साथ साथ उन औषधियों को मन्त्रों से अभिमन्त्रित भी करते थे, जिससे उन औषधियों की शक्ति में वृद्धि हो जाती थी। आधुनिक चिकित्सा पद्धति में मन्त्र' प्रयोग का अभाव पाया जाता था। यदि हम सामान्य दृष्ट्या देखेंगे तो यह प्रतीत होगा कि रोग नाशक सामर्थि केवल औषधियों के ही है किन्तु जब हम सूक्ष्म दृष्ट्या अवलोकन करे तो यह स्पष्ट होता है कि महार्षियों कि सिद्धान्त सार हीन नहीं है। उनके मूल में यह है कि वे भौतिक वस्तुओं में देवताओं की सत्ता स्वीकार करते थे। औषधियों का स्वरूप निर्माण देवताओं द्वारा ही हुआ है। औषधियों में गुणों का आधान देवता ही करते हैं। मानव शरीर में जब देव प्राण की हीनता होती है तभी रोग उत्पन्न होते हैं। इसी देव प्राणहीनता की पूर्ति औषधियों में स्थित देवप्राणों के द्वारा होती है। इससे रोग का शमन होता है। मन्त्रोच्चारण के साथ-साथ जब हम औषधियों को सेवन करते है तब तदौषधि अभिमानि देवता के प्राणों की शक्ति को अधिक बलशाली बनाया जाता है। मन्त्र की शक्ति द्वारा उस देवता के साथ-साथ मन व प्राण योग कराया जाता है क्योकि मन्त्र प्रयोग में मन व प्राण दोनो की क्रियायें अपेक्षित होती हैं। औषधियों को सम्बोधित करने से औषधिस्थ देवता का उद्‌बोधन होता है, इससे औषधिस्थ शक्ति की वृद्धि होती है। इन तथ्यों का स्पष्टीकरण और तब स्पष्ट होता है जब बिना औषधियों का प्रयोग किये केवल मन्त्रों के द्वारा ही चिकित्सायें की जाती हैं। मन्त्र चिकित्सा में मानव शरीर में स्थित प्राण देवता को सम्बोधित करके उन्हें वीर्यवान

बनाकर रोग का शमन किया जाता है।

व्याधि निरसन :-

गृह्यसूत्रों में शरीर के विभिन्न अंगों व उनसे व्याधि निरसन की प्रार्थनायें हैं। गृह्यसूत्र में कहा गया है मै अपने शिर श्रवण मूर्धा में प्रविष्ट, मध्यदेश व ललाट में प्रविष्ट पीड़ा दायक घोर व्याधियों को नष्ट करता हूँ। ग्रीवा,स्कन्ध,नासिका व मुख में प्रविष्ट व्याधियों को नष्ट करता हूँ। बाहु,दोनो पार्श्व व उरः प्रदेश में प्रविष्ट व्याधियों को नष्ट करता हूँ।[1]

उपनयन संस्कार में एक मन्त्र प्रयुक्त है जिसमें कहा गया है कि यकृत का अधिष्ठातृ देव प्रजापति है।[2]

विवाह में प्रयुक्त एक मन्त्र में ऋषि वधू के विभिन्न अंगो का शोधन करता हुआ कहता है कि हे वधु, तुम्हारे भाल करतलादि रेखासन्धियों में नेत्रपिधानों में आवर्त में जो कुछ अलक्षण हैं मैं उन्हें - पूर्णाहुति द्वारा दूर करता हूँ। तुम्हारे केशों में, दशनों में, अश्रुविमोचन में जो कुछ अशुभ चिह्न हैं मैं उन्हें दूर करता हूँ। तुम्हारे व्यवहार, कथन हसन व गमन में जो कुछ अशुभ चिह्न हैं मैं उन्हें दूर करता हूँ। तुम्हारे दन्तान्तरालों में अधरोष्ठ में, दन्तों में हाथों में, पैरों में, गुल्मों में, जो कुछ अशुभ चिह्न है मैं उन्हें दूर करता हूँ। तुम्हारी जानु और ऊपरवर्ती भागों में, प्रजनेन्द्रिय में जंघाओं में मुख में और शरीर सन्धियों में जो कुछ अशुभ चिह्न हैं उन्हें दूर करता हूँ। तुम्हारे स र्वांग में जो कुछ घोर पाप चिह्न है मैं उन्हें दूर करता हूँ।[3] उपर्युक्त प्रसंग में पाप चिह्न का भाव व्याधि है। पाप चिह्न अर्थात रोगों को दूर कर निरोग रखने की पूर्ण भावना ऋषि की है।

---

1. गो०गृ०सू०- पृ० 809-811
2. वही पृ० 482
3. जै०गृ०सू० 20/17, द्रा०गृ०सू० व खा०गृ०सू० 1.4.13, गो०गृ०सू० पृ० 310

अजराः-

वृद्धावस्था स्वयम् में एक रोग है। गृह्यसूत्रों में गृह्यकर्मों में विनियुक्त मन्त्रों में रसायन के उपयोग व गुणों पर प्रकाश डाला गया है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में सोम की भरपूर चर्चा है। सोम औषधियों का राजा है। इन्द्र सर्वाधिक सोमपायी देवता है। सोमपान से इन्द्र हमेशा वलीपलितादि रोगों से दूर रहकर नित्ययुवक बना रहता है। महानाम्निक व्रत में एक मन्त्र प्रयुक्त है।[1] जिसमें कहा गया है- हे पर्वत की भाँति दृढ़ इन्द्र आपके पास जो पुरातन धन है। उसे हम लोगों को दीजिए। हे इन्द्र यह जो सोमलता खण्ड है, उससें उत्पन्न रस आपके मद के लिए है। हम लोगों द्वारा प्रदत्त यह सोम यदि आपके लिए मदकारक है तो हम लोगों को सुखपूर्ण धन में स्थापित कीजिए। हे बलवत्तम इन्द्र, आप निश्चय ही नवीन है, अर्थात वली पलितादि लक्षणों से वर्जित हैं। हम आपको हनिव भोक्तृत्व के रूप में स्थापित करते हैं।

दुःस्वप्न विनाश :-

स्वप्न आयुर्वेदीय दृष्टि में अपना स्थान निर्धारित किए है।[1] आयुर्वेद में स्वप्नों के आधार पर भी रोगों की साध्यता व असाध्यता का निर्णय लिया जाता है। गृहयसूत्रों में भी दुष्ट व कष्टकारी स्वप्नों के प्रभाव के विनाश के लिए भव्य प्रार्थनायें हैं। प्रायश्चित प्रकरण में दुःस्वप्न विनाश की कामना करता हुआ ऋषि कहता है- हे सविता, हम लोगों के लिए इस यज्ञ के दिन पुत्रादि से युक्त धन को प्रदान कीजिए एवम् दुःस्वप्न को दूर कीजिए- अद्य नो.............दुःस्वप्न्यं सुव।[3]

स्वप्नों के ही आधार पर दैवव्यपाश्रय चिकित्सा की जाती है। रोगों का दूरीकरण करने में इस स्वप्नों की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है जो अनुसन्धान के योग्य है।

---

1. गो०गृ०सू० - पृ० 531
2. च०सं०इ०अ० 5
3. गो०गृ०सू०- पृ० 593

रोग शून्यता :-

आयुर्वेद का लक्ष्य प्राणियों को रोगयुक्त कर स्वस्थ जीवन प्रदान करना है। इसीलिए इसके सभी आचार-विचार औषधियाँ इत्यादि इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन है। गृह्यसूत्रों में इसी लक्ष्य को प्राप्त करने की भावनायें अनेक जगह हैं।

जातकर्म संस्कार में निम्नलिखित अभिचार पूर्ण वचनों का विनियोग किया जाता है।[1] शुण्ड और मर्क उपवीर और शौण्डिकेम, उलूखरन और मलिक्लुच द्रोण्मश और च्यवन यहाँ से दूर हो जावें। आलिखित अनिमिष, किम्वदन्त, उपश्रुति, हर्यक्ष, कुम्भिनशत्रु, पात्रपाणि, नृमाणि, हन्तृमुख, सर्षपारूण और च्यवन यहाँ से दूर जावें। उपर्युक्त नाम उन रोगों व विकारों के हैं। जो शिशु पर आक्रमण करते हैं। आदिम मानव भूतप्रेतों के रूप में उनको धारण कर उन्हें सम्बोधित करता था। यहाँ उनकी धारणा काल्पनिक किन्तु चित्तमय है, उसी प्रकार उनके प्रतीकार के उपाय भी अभिचारिक किन्तु उपयोगी थे।

इसी प्रकरण में कहा गया है- शिशुओं पर आक्रमण करने वाले कुर्कर, सुकुर्कुर, उसे मुक्त कर दो।[2] इस प्रकार इस मन्त्र में रोगवाही भूत-प्रेतों को दूर करने की कामना की गई है

गायों की पुष्टि प्रसंग में एक मन्त्र दृष्टव्य है- 'इमा.........सन्तु भूयसी'।[3] इसका अर्थ है ये चरक रोग शून्य प्रशस्त दुग्धवाली में गायें दुग्ध के साथ मुझे प्रत्यार्पित कीजिए। बहुत सी गाये इस घर में घृत की जनयितृ होवें। इस प्रकार इस मन्त्र में गायों के रोगशून्य होने की कामना है।

दीर्घायुप्राप्ति :-

आयुर्वेद का लक्ष्य है दीर्घायुप्राप्ति इस लक्ष्य के निमित्त गृह्यकर्मो में विनियुक्त

1. पा०गृ०सू० 1.16.19
2. पा०गृ०सू० 1.16.20,
3. गो०गृ०सू०- पृ० 648

अनेक मन्त्रों में इसका प्राविधान है। गर्भाधान प्रकरण में एकमन्त्र में[1] रात शरद जीवन की कामना है। जातकर्म प्रकरण में एक कृत्य हे 'आपुष्य'। इसके शिशु की नाभि अथवा दाहिने कान के लिए पिता गुनगुनाता हुआ एक मन्त्र कहता है।[2] इसमें अग्नि, वृक्ष, सोम, वनस्पति, ब्रह्म,अमृतत्व ऋषि, यज्ञ, यज्ञीयअग्नि,समुद्र नदि, आदि को दीर्घजीवी कहा गया है, इसमें साथ ही साथ शिशु के दीर्घजीवी होने की कामना की गई है। जातकर्म प्रकरण में ही ब्राह्मण निम्न प्रकार से शिशु में जीवन संचार करने में सहायता पहुँचाते थे। एक ब्राह्मण दक्षिण में कहता था 'प्रतिश्वास', दूसरा पश्चिम की ओर कहता है 'निश्वास', एक ब्राह्मण ऊपर की ओर देखता हुआ कहता है 'बृहिःश्वास तथा एक ब्राह्मण ऊपर की ओर देखता हुआ कहता है 'उच्छ्वास' आदि।[3] यह चमत्कारपूर्ण कृत्य शिशु के श्वास को सबल करने तथा उसका जीवन दीर्घतर करने के उदकरने के उद्देश्य सम्पन्न किया जाता था। नामकरण प्रसंग में शिशु को दीर्घायु होने का आशीर्वाद दिया गया है। चूडाकरण प्रसंग में केशों का कर्तन करते समय जिस मन्त्र का उच्चारण किया जाता है जिसका आवांश है- आयुष्म ,सत्ता, दीप्ति तथा कल्याण के लिए मैं तेरा मुण्डन करता हूँ। उपनयन प्रकरण में कौपीन धारण करते समय जिस मन्त्र का उच्चारण किया जाता है उसका भाव इस प्रकार है- जिस प्रकार बृहस्पति ने इन्द्र को अमृतत्व का वस्त्र प्रदान किया उसी प्रकार मैं दीर्घायुष्य दीर्घजीवन, शाक्ति, तेज और ऐश्वर्य के लिए यह वस्त्र तुझे देता हूँ।[4] यज्ञोपवीतम्[5] मन्त्र द्वारा यज्ञोपवीत धारण करने का विधान है, इस मन्त्र में दीर्घायु के लिए भी प्रार्थना की गई है उपनयन प्रकरण में ही आचार्य विद्यार्थी को एक दण्ड देता है जिसे वह इस मन्त्र के साथ स्वीकार करता है कि मेरा दण्ड जो मुक्त वायुमण्डल में भूमि

1. पा०गृ०सू० – 1.12.9
2. पा०गृ०सू०1.16.6
3. वही 1.16.10-12
4. पा०गृ०सू०- 2.2.10
5. वही 2.2.13

पर गिर गया, मैं दीर्घायुष्य, वर्चस्व तथा शुचिता के लिए उसे पुनः ग्रहण करता हूँ।[1] दण्ड यात्री का प्रतीक या तथा दण्ड को स्वीकार करते समय ब्रह्मचारी यह प्रार्थना करता हे कि वह अपना दीर्घ जीवन व दुर्गम यात्रा सुरक्षित रूप से समाप्त कर सके।[2]

विवाह प्रसंग में वधू को वस्त्रधारण करते समय जिस मन्त्र का उच्चारण किया जाता है जिसका भाव है वार्धक्य पर्यन्त जीवित रहो, वस्त्र धारण करो, मानव जनों की शाप से रक्षा करो, ऐश्वर्य तथा सन्तति से सम्पन्न होवो, दीर्घायुष्य से सम्पन्न होकर इस वस्त्र को धारण करो।[1] विवाह के ही पाणिग्रहण प्रकरण में वर वधू का दाहिना हाथ पकड़कर कहता है मैं सौभाग्य के लिए तेरा पाणिग्रहण करता हूँ। तू मुझ पति के साथ दीर्घायु हो।[4]

जैमिनि गृह्यसूत्र में उपनयन के अवसर[5] पर विवाह[6] कर्मप्रदीपोक्त, प्रायश्चित[7] विवाह[8], लाजाहोम[9], पुत्रकामिकी के पिण्ड प्राशन के समय[10] दीर्घायु से सम्बन्धित मन्त्रों का विनियोग है।

जैमिनि गृह्यसूत्र में उपनयन के अवसर[11] व विवाह[12] के अवसर पर दीर्घायु से सम्बन्धित मन्त्रों का विनियोग किया गया है। द्राह्यायण व खादिर गृह्यसूत्रों में विवाहादि[13] के अवसरों पर विनियुक्त मन्त्रों में दीर्घायु के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

सन्धान-क्रिया :-

सन्धान क्रिया का जो रूप गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होता है वह अद्यतन सन्धान

---

1. पा0गृ0सू0 2.2.14
2. मा0गृ0सू0 1.22.11
3. पा0गृ0सू0 1.4.13-14
4. शां0गृ0सू0 1.13.2, आ0गृ0सू0 1.7.3, गो0गृ0सू0 2.2.16, खा0वद्रा0गृ0सू0 1.3.17
5. गो0गृ0सू0 पृ09
6. वही पृ0 128
7. वही पृ0 263
8. वही पृ0 289 व 293
9. वही पृ0 299
10. वही पृ0 762
11. जै0गृ0सू0 11-21
12. वही पृ0 21.20

क्रिया से किसी भी प्रकार न्यून नहीं है। वधु के पति गृह गमन करते समय अक्ष के भंग हो जाने पर होम में जिस मन्त्र का प्रयोग किया जाता है उसका भाव है- जो इन्द्र अभिश्लेषण द्रव्य के बिना भी ग्रीवा को रक्त निकलने के पूर्व ही संयुक्त कर देता है वह इन्द्र इस अक्ष का संस्कर्त्ता होवे।[1] इसके वैदिक कालीन सन्धान चिकित्सा का ज्ञान स्वयमेव ज्ञात हो जाता है।

क्रिमि नाश :-

गृह्यसूत्रों में क्रिमियों वा उनकी विभिन्न कोटियों तथा उनके नाश के लिए मन्त्र विनियुक्त हैं। इस सम्बन्ध में ऋषि का कहना है कि क्रिमियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। जैसे तिर्यकगमन करने वाली आँतों के भीतर विचरण करने वाली, द्विशीर्षवाली, शुम्भ्रवर्णा, नीलमाक्षिका, क्षुल्सक आदि। इन क्रिमियों के नाश के लिए गौतम अग्नि आदि ऋषियों ने इन्द्र द्वारा इनके नाश की कामना की है। ब्रण के साथ क्रिमियों के नाश की प्रार्थनायें हैं। क्रिमियों के सवंश नारा की प्रार्थनायें हैं। इस विषय से सम्बन्धित अनेक मन्त्र गृह्यसूत्रों में है।[2]

दिवाशयन वर्जन :-

आयुर्वेदीय ग्रन्थों दिवाशयन को निषेधित किया गया है। कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिए ही दिवाशयन विहित है। जैसे- जो व्यक्ति गीत, अध्ययन, मदिरा पान, मैथुन संशोधन कर्म, भार ढ़ोने, रास्ता चलने आदि से क्षीण हो गये हों, अजीर्ण के रोगी, उरःक्षत के रोगी और जिनका शरीर धातुक्षय से क्षीण हो गया हो, वृद्ध, बालक, स्त्री तथा प्यास, अतिसार एवं शूल रोग से पीड़ित, दमा के रोगी, हिचकी के रोगी, कृश व्यक्ति, किसी ऊँचे स्थान से गिरे हुए व्यक्ति, अभिहत, पागल, सवारी पर चढ़ने से या रात्रि जागरण से थके हुए व्यक्ति, क्रोध, शोक व भय से पीड़ित व्यक्ति, जिन्हें दिन

1. गो०गृ०सू० पृ० 330
2. गो०गृ०सू० पृ० 868-869

में शयन करने का अभ्यास हो गया है ऐसे व्यक्ति सभी ऋतुओं में दिन में शयन कर सकते हैं।[1]

इससे स्पष्ट होता है कि स्वस्थ व्यक्ति को दिवाशयन वर्जित है। ऐसी धारणा गृह्यसूत्रों में पायी जाती है – 'दिवा ना स्वाप्सीः'।[2]

उपनयन संस्कार में अग्नि की एक प्रदक्षिणा और उसमें आहुति देने के पश्चात् ब्रह्मचारी को स्वीकार करता हुआ आचार्य उसे यह आदेश देता है तू ब्रह्मचारी है; जल ग्रहण कर दिन में शयन न कर वाक्य संयम करें आदि।[3]

बल प्राप्ति :-

शारीरिक संचालन की दृष्टि से बल की नितान्त आवश्यकता होती है। जातकर्म संस्कार में शिशु के दृढ़, वीरतापूर्ण शौर्य के लिए पिता एक मन्त्र के माध्यम से प्रार्थना करता है। पिता शिशु से कहता है – तू पत्थर हो, तू परसु हो, तु अमृत स्वर्ण बन। तू यथार्थ में पुत्र नाम से आत्मा है आदि।[4] इसके पश्चात् कुल की आशाओं के केन्द्रभूत पुत्र के जन्म देने के लिए माता की स्तुति की जाती है। उसके सम्मान में पति एक मन्त्र का उच्चारण करता है जिसमें पुत्र के वीरतायुक्त होने की बात कही गई है।[5] विवाह के सप्तपदी प्रसंग में बल प्राप्ति के लिए 'द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयतु'[6] मन्त्र का प्रयोग है जिसमें स्पष्ट शब्दों में ऊर्जा अर्थात् बल की कामना की गई है। अन्नप्राशन के समय जो अग्नि में आहुतियाँ प्रदान की जाती है, उसमें द्वितीय आहुति ऊर्ज्ज को दी जाती है। आज हम ऊर्ज्ज प्राप्त करें।[7] प्रायश्चित प्रकरण में वीर्यपातादि दोष से जो इन्द्रिय बलादि नष्ट हो गये हों उनकी पुनः प्राप्ति की कामना की गई

1. च0सं0सू0स्था0 अ0 21
2. खा0 व द्रा0गृ0सू0 2.4.19, जै0गृ0सू0 11.20, गो0गृ0सू0 पृ0 483
3. पा0गृ0सू0 2.3.2
4. पा0गृ0सू0 1.16.14
5. वही 1.16.15
6. गो0गृ0सू0 पृ0 303
7. पा0गृ0सू0 1.19.2

है। इसी प्रसंग में शरीरस्थ अग्नि की उचित मात्रा में कामना की गई है। 'पुनर्मा'[1] मन्त्र जो आयुर्वेद के 'समदोषः'[2] मन्त्र से साम्य रखता है। इसी से साम्य रखते हुए यश कामी पुरूष के कृत्य का वर्णन करते समय भी इन्द्रियों को पुनः बलयुक्त बनाने की कामना की गई है- 'पुनर्मायन्तु'।[3]

चूड़ाकरण संस्कार में मुण्डन में प्रयुक्त छुरे की स्तुति तथा उससे अहानिकर होने की प्रार्थना वेदों में भी की गई है। 'आयु, अन्नाय, प्रजनन, ऐश्वर्य, सुसन्तति तथा बलवीर्य की प्राप्ति के लिए स्वयं पिता द्वारा केश छेदन का उल्लेख प्राप्त होता है।[4]

मधु-प्रशंसा :-

मधु की प्रशंसा आयुर्वेद व वेद दोनों में मुक्त कण्ठ से की गई है। चरक संहिता में मधु की प्रशंसा इस प्रकार की गई है 'वातलम्...........मधुरं मधुः।[5] अर्थात् मधु वातकारक गुरू, शीतल, वीर्यकारक, रक्तपित्त एवं कफ का नाशक है। सन्धान करने वाला छेदन, रूक्ष, और रस में कषाय तथा मधुर होता है। मधु के इन्हीं गुणों को देखकर गृह्यसूत्रों में भी इसे उत्तम दृष्टि से देखा गया है। 'यशसो भक्षोऽसि'[6] अर्थात हे मधुपर्क तुम मुझे यश, तेज, व श्री को प्रदान करो, क्योंकि तुम इन सबके आश्रय हो। इस मन्त्र में भी मधु से यश श्री व तेज की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गई है। यह प्रार्थना मधु के गुणों के ही कारण है।

विषनाश :-

विष अत्यन्त अहितकर पदार्थ है। गृह्यसूत्रों में वर्णित गृह्यकर्मों में विनियुक्त

1. गो०गृ०सू० पृ० 594
2. सु०सं०सू०स्था० अ० 15/33
3. गो०गृ०सू० पृ० 814
4. मे०वे० 3.33
5. च०सं०सू०स्था०अ० 27/245
6. द्रा० व खा०गृ०सू० 4.4.18, गो०गृ०सू० पृ० 889

मन्त्रों में विषनाश के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। विषधर द्वारा डसे जाने पर जिस मन्त्र का विनियोग किया जाता है उसमें विषदृष्ट को सम्बोधित करके कहा गया है कि 'तुम डरो नहीं, क्योंकि तुम मरण को नहीं प्राप्त होगे, किन्तु जरापर्यन्ता विषांश तुझमें व्याप्त रहेगा। विषवान के तत्व को तुम प्राप्त नहीं करोगे अर्थात् उसके विष का पराक्रम दर्शित नहीं होगा। तुम्हारे मुख में विष के प्रभाव से झाग उत्पन्न नहीं होगी- 'मा भैषीः'।[1] विष से बचने के लिए ऋषि सर्पो से स्वयं की अहिंसा की प्रार्थना करता है। यां सन्ध्याम्।[2]

सुन्दर व स्वस्थ सन्तति :-

जन्म के समय यदि बच्चे स्वस्थ हों तो उनका आगे का जीवन उन्नत होगा, क्योंकि बच्चे ही देश के भविष्य होते हैं। सीमन्तोन्नयम में कहा गया है कि यह वृक्ष उर्वर है, इसी के समान यह स्त्री भी स्वस्थ फलवती होवे।[3] इसी संस्कार में गर्भिणी स्त्री के आस पास बैठी हुई ब्राह्मण स्त्रियों को इन मांगल्यसूत्रक मन्त्रों का उच्चारण करने का विधान किया गया है। तू वीर पुत्रों की माता हो, तू जीवपुत्रा हो आदि।[4] इसके पश्चात् पति वंशीवादकों से कहता है 'ओ राजन् गान करो, क्या इससे भी अधिक वीर्यवान् कोई कहीं पर है।[5]

जातकर्म संस्कार में सूतिका गृह के द्वार के निकट अग्नि की विधिवत् स्थापना कर उसमें आहुति प्रदान की जाती है। इसी समय निम्नलिखित अभिचार पूर्ण वचनों का प्रयोग किया जाता है, शुण्ड और मर्क उपवीर और शौण्डिकेय, उलूखल और मलिम्लुच, ओमाश और च्यवन यहाँ से दूर हो जावों। अलिखित अनिमिष, किम्वदन्त उपश्रुति, हर्यक कुम्भिनशत्रु पात्रपाणि, नृमणि, हन्तृमुख, सर्वपारुण और च्यवन यहाँ दूर

1. गो०गृ०सू० पृ० 866
2. गो०गृ०सू० पृ० 668
3. पा०गृ०सू० 1.15.6
4. गो०गृ०सू० 2.7
5. पा०गृ०सू० 1.15.7

हो जावों स्वाहार।[1] उपर्युक्त नाम रोगों और विकारों के हैं जो शिशु पर आक्रमण करते हैं यह मन्त्र उनका प्रतिकार है।

गर्भाधान क्रिया :-

गृह्यसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों में गर्भाधान क्रिया से सम्बन्धित अनेक तथ्य है। विवाह संस्कार के अवसर पर विनियुक्त एक मन्त्र में कन्या के जननोन्द्रिय रूपी अग्नि में पुरूष के घृतरूपी शुक्र के प्रवेश का उल्लेख है।[2]

बन्ध्याराहित्य सुख प्रसव व शिशु रक्षा :-

बन्ध्या होना स्त्रियों के लिए परम दुर्भाग्य है आधुनिक चिकित्सा पद्धति में इस समस्या के समाधान के लिए गर्भशोधन जैसी विविध आधुनिक क्रियाये हैं। बन्ध्यात्व राहित्य के लिए गृह्यसूत्रों मे विनियुक्त मन्त्रों में भी चर्चाएँ हैं। विवाह प्रसंग में एक स्थल पर इसका उल्लेख व उसके समाधान की कामना की गई है। अप्रजस्यम्[3]

चिकित्सा विज्ञान की उद्देश्य सुख प्रसव भी है। प्रसव पीडा असह्य होती है। वैसे प्रसव के लिए पीडा आवश्यक है किन्तु जब यह पीड़ा सीमा पार कर जाती है तो समाधान के योग्य होती है। गृह्यसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों में इस विषय में भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। शोष्यन्ती होम प्रकरण में विनियुक्त एक मन्त्र में ऐसा ही भाव है। अथर्ववेद के एक मन्त्र[4] विनियोग गृह्यसूत्रों में सुख प्रसव के लिए विनियुक्त किया जाता है। या तिरइची[5] मन्त्र में भी ऐसी ही कामना है। उपनयन प्रसंग में विनियुक्त एक मन्त्र में प्रसव कार्य के सम्पूर्ण रूपेण निर्वहनकर्ता के रूप में सविता देन का उल्लेख किया गया है।

शिशुरक्षण भी बड़ा महत्वपूर्ण कार्य है, इसके लिए आज के चिकित्सा विज्ञान

1. पा०गृ०सू० 16.19
2. अग्निं क्रव्याद् - गो०गृ०सू० पृ० 284
3. जै०गृ०सू० 20/16, गो०गृ०सू० पृ० 294
4. अ०वे० 1.11.3
5. गो०गृ०सू० पृ० 394, द्रा व खा०गृ०सू० 2.2.30, जै०गृ०सू० 20.7

में अनेक, सुविधायें उपलब्ध हैं। जातकर्म प्रकरण में प्रयुक्त एक मन्त्र में इस प्रकार के भाव है - शिशु की नाभि अथवा दाहिने कान के निकट पिता गुनगुनाता हुआ कहता है- 'अग्नि दीर्घजीवी हे, वह वृक्षों में दीर्घजीवी है, मैं उस दीर्घ आयु से तुझे दीर्घायु करता हूँ। सोम दीर्घजीवी है, वह वनस्पतियों द्वारा दीर्घजीवी है आदि। ब्रह्म दीर्घजीवी है वह अमृतत्व के द्वारा दीर्घजीवी है आदि। ऋषि दीर्घजीवी हैं, वह अपने ज्ञान के द्वारा दीर्घजीवी है, आदि.......उक्त उदाहरणों के कथन से शिशु भी दीर्घायु प्राप्त कर लेगा।[1] शिशु के दीर्घायुष्य के लिए अन्य कार्य की किए जाते हैं। उपर्युक्त मन्त्र शिशु की दुगुनी आयु के लिए दो बार व तिगुनी आयु के लिए तीन बार पढ़ने का विधान है। इसी जातकर्म प्रकरण में ही एक स्थान पर ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि ब्राह्मण निम्नलिखित प्रकार से शिशु में जीवन का संचार करने में सहायक होते हैं- एक ब्राह्मण दक्षिण में कहता है 'प्रतिश्वास', दूसरा पश्चिम की ओर कहता है 'विश्वास' एक उत्तर की ओर देखता हुआ कहता है कि 'उच्छ्वास' आदि।[2] यह चमत्कार पूण कृत्य व उच्चारण शिशु के श्वास को सबल करने तथा उसका जीवन दीर्घतर करने के उद्देश्य से किया जाता था। एक मन्त्र में कहा गया है कि हे पृथ्वी मै तेरा हृदय जानता हूँ वह हृदय जो आकाश में जो चन्द्रमा में रहता है। मैं उसे जानता हूँ वह मुझे जाने। शिशु सौ शरद् ऋतु देखे, मैं शरद्ऋतु पर्यन्त सुने।[3] एक अन्य मन्त्र में पिता शिशु के लिए प्रार्थना करता हुआ शिशु से कहता है, तू अश्मा हो, तू परशु हो, तू अमृ त स्वर्ण बन तू यथार्थ में पुत्र नाम से आत्मा है, तू सौ शरद ऋतु जीवित रह।[4]

---

1. पा0गृ0सू0 1.16.6
2. पा0गृ0सू0 1.16.10-12
3. वही 1.16.13
4. पा0गृ0सू0 1.16.14

उरूघात निवारण व शोधन :-

शरीर में हृदय अत्यन्त कोमल व महत्वपूर्ण अंग है। शरीर संचालन की दृष्टि से इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। उपनयन प्रसंग में आचार्य शिष्य के दाहिने कन्धे की ओर पहुँचकर मैं अपने व्रत में तेरा हृदय धारण करता हूँ। तेरा चित्त मेरे चित्त का अनुगामी हो।[1] इसमें हृदय की कोमलता का भाव स्पष्ट रूपेण प्रदर्शित है। विवाह प्रसंग में प्रयुक्त मन्त्रों में भी वर वधू के हृदय की सम्बद्धता वर्णित है।

गृह्यसूत्रों में ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि रोने से उरूघात होता है, अतः ऐसी स्थिति होनी चाहिए कि रोने की स्थिति ही न बन सके। विवाह संस्कार में वर्णित एक मन्त्र में रोने की निषेधात्मक स्थिति का सन्निवेश है।[2] विवाह प्रसंग में ही हृदय शोधन का वर्णन है। ऋषि का कथन है कि हे वधु, तुम दोनों के हृदय शोधन का वर्णन है। ऋषि का कथन है कि हे वधु तुम दोनों के हृदयको निश्वेदेव संशोधित करें अर्थात उसमें किसी भी बिकार को न होने दे। तथा जल, वायु., प्रजापति, व उपदेष्टा देव एकीकृत करें समञ्जन्तु।[3]

देवभिषक् अश्विन् :-

अश्विन युगल वैदिककाल के देवताओं के महान चिकित्सक थे। उनके ऐसे कार्यो का उल्लेख प्राप्त होता है कि आज के चिकित्सा जगत में विस्मयकारी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। गृह्यसूत्रों के काल में भी देवभिषक् अश्विन की महत्ता को स्वीकार किया गया है। 'येन स्त्रियम'[4] मन्त्र में जो कहा गया है उसका भावार्थ है अश्विनों ने स्त्रियों में अपनी सामर्थि से स्त्रीजाति को भोग्यत्व रूप में निरूपित किया, अपुष्पा स्त्री की हिंसा की जल को सुरा के रूप में भोग्य किया अक्षों को भोग्य किया,

1. पा0गृ0सू0 – 2.2.18
2. जै0गृ0सू0 20.10, द्रा0व खा0गृ0सू0 1.3.11, गो0गृ0सू0पृ0 294
3. गो0गृ0सू0 पृ0 305, खा0व द्रा0 गृ0सू0 1.3.60
4. द्रा0वखा0गृ0सू0 3.1.15, गो0गृ0सू0 3.7.17

इस महान् पृथ्वी को अभिसिंचित किया- ऐसे गुण सम्पन्न आप दोनों हम लोगों को अभिषिक्त करें । अश्विनों के चमत्कारी गुणों को देखकर ऋषि उनकी उपासना करता है और उनसे सर्वप्रिय रूपादि की कामना करता है- भूर्भवः स्वरोम।[1]

औषधियाँ :-

आयुर्वेद का लक्ष्य है लोगोको दीर्घायु बनाना, दीर्घायु स्वस्थ जीवन से ही प्राप्त हो सकता है और स्वस्थ जीवन के लिए औषधियों की महत्वपूर्ण भूमिका है आयुर्वेद के आदिश्रोत वैदिक वाड्मय में ही उपलब्ध हैं। इसी वैदिक वाड्मय के प्रमुख भाग हैं मन्त्र। गृह्यसूत्रों में वर्णित गृहकर्मो मेंविनियुक्त मन्त्रों में अनेक औषधियों की चर्चायें उपलब्ध हैं। कुछ वस्तुओं को औषधियों की संज्ञा प्रदान की गई है जो इस प्रकार है-

ब्रीहयः शालमोमुद्गा गोधूमाः सर्षपास्तिलाः।
यवाश्चौषधयः सप्त विपदो ध्नान्ति धारिताः।।[2]

अर्थात् ब्रीहि शलि , मुट्ग गोधूम, सर्षप, तिल और यव ये सात औषधियाँ है जिन्हें धारण करने से विपत्ति अर्थात रोग नष्ट हो जाते है।

समावर्तन प्रसंग में विनियुक्त एक मन्त्र[3] में वनस्पति का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी संस्कार में एक मन्त्र में औषधिराज सोम की भी चर्चा है चक्षुरसि[4] सोम के गुणों से अभिभूत होकर ऋषि सोम की प्रार्थना कईभागों में किया है।[5]

पुंसवन संस्कार में प्रयुक्त एक मन्त्र में वटवृक्ष के शुंग को औषधि की संज्ञा प्रदान की गई है और उससे प्रार्थना की गई है कि गर्भ में विशिष्ट शक्ति प्रदान कर पुरुष सन्तति प्रदान करें औषधयो........।[6]

---

1. गो०गृ०सू० 4.8.1 2. गो०गृ०सू०पृ० 253
3. शां०गृ०सू० 3.1.13
4. गो०गृ०सू०पृ० 624, द्रा०वखा०गृ०सू० 3.1.19
5. गो०गृ०सू०. पृ० 667, 747, 885
6. द्रा०वखा०गृ०सू० पृ० 61, गो०गृ०सू० पृ० 374

चूडाकरण संस्कार में प्रयुक्त एक मन्त्र में दर्भपिज्जूलि को औषधि की संज्ञा प्रदान की गई है और उससे बालक के रक्षा की कामना की गई है 'ओषधे त्रायस्वैनम्'[6]

गर्भाधान :-

कर्मकाण्डों में विनियुक्त मन्त्रों में भी गर्भाधान से सम्बन्धित अनेक मन्त्र हैं। गर्भाधान क्रिया में पिता के वीर्य में उसके सभी अंगो का योग होता है जो इस मन्त्र से स्पष्ट है अंगादंडात[2] इसीलिए सूर्घामिघ्राण में विनियुक्त एक मन्त्र में पुत्र को पिता के सभी अंगो से संश्रुत माना गया है।

पुंसवन के एक मन्त्र में गर्भ में पुरूष सन्तति के प्ररोह का उल्लेख मिलता है- पुमांसौ.....[3]

विवाह के अवसर पर सम्पन्न होने वाले संगतिकर्म के अवसर पर एक ऐसे मन्त्र का विनियोग है जिसमें कन्या के उपस्थ रूपी अग्नि में पति के घृत रूपी शुक्र के प्रवेश का उल्लेख हैं अग्नि क्रत्याद्[4]

गर्भाधान संस्कार में विनियुक्त एक मन्त्र में गर्भाधान की विविध प्रकृयाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं विष्णु का योनि को गर्भधारण करने योग्य बनाना अर्थात गर्भाशय की विकृतियों को दूर करना त्वष्टा को गर्भ के आकार का निर्माण करने, प्रजापति को गर्भ का पोषण करने आदि विविध क्रियाओं के उल्लेख है।[5]

शांखायन गृह्यसूत्र में गर्भाधान प्रकरण में एक मन्त्र में कहा गया है कि तुम्हारी योनि में गर्भ उसी प्रकार आवे जैसे तरकस में तीर। दशमास के बाद तुम से वीर पुत्र उत्पन्न हो। पुरूष पुत्र को उत्पन्न करो। उसके बाद पुत्र को उत्पन्न करो

1. गो0गृ0सू0 पृ0 437
2. द्रा0 व खा0गृ0सू0 2.3.13, गो0गृ0सू0 पृ0 428
3. वही पृ0 361
4. वही पृ0 384
5. जै0गृ0सू0 23.18, गो0गृ0सू0 पृ0 361

उन उत्पन्न और आगे उत्पन्न होने वालों की माता बनो पुरूष में ही रेतस रहता है। उसे स्त्री में सिंचित करे। ऐसा धाता ने कहा है कि इसे प्रजापति ने कहा है प्रजापति में इसे बनाया। सविता ने रूप दिया। स्त्री का जन्म दूसरी स्त्रियों में देते हुए यह प्रेम को उत्पन्न करो........सुन्दर प्रसव करने वाली धेनु होवो.......गर्भ का आधान करो. ....योनि खोलो और पति का रेतसलो आदि।[1]

मृत्यु सन्तरण :-

इस संसार में सबसे बड़ा भय मृत्यु से होता है। यूँ तो मृत्य प्रत्येक व्यक्ति की निश्चित है, लेकिन किसी की अकाल मृत्यु न हो, यही आयुर्वेद के लक्ष्यों में मुख्य है। गृह्यसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों में भी इस सम्बन्ध में अनेक मन्त्र प्रार्थनाएँ उपलब्ध हैं।

विवाह प्रकरण में विनियुक्त एक मन्त्र में अदुष्टनेमों से अपने पति के लिए मृत्यु की वाहिका न बनने का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] पूर्व वर्णित दीर्घायु के सम्बन्ध में प्रयुक्त अनेक उद्धारणों में दीर्घायु की भावना में भी मृत्यु सन्तरण की भावना भावित है। विवाह प्रकरण में ही प्रयुक्त एक मन्त्र में ऋषि मृत्यूपाश से विर्निमुक्ति से कहता है अग्निरेतु।[3] इसी प्रसंग में अकालमृत्यु निराकरण एवं इन्द्रियों के अपने पूर्वरूप में बने रहने की कामना करता हे। 'परैतु मृत्युः'[4]

बालक के निष्क्रमण संस्कार के अवसर पर विनियुक्त एक मन्त्र में ऋषि बालक के चिरजीवन की कामना करता है। 'कोऽसि'[5] आश्वयुजी कम्र में भी मृत्यु सन्तरण की कामना है।[6] उपनयन प्रकरण में विनियुक्त एक मन्त्र में ऋषि नाभि को प्राणों की ग्रन्थि मानकर यमराज से माणयक में मरण रोग व जरा से सुरक्षा की

1. शां0गृ0सू0 – 1.19.6
2. पा0गृ0सू0 1.4.17
3. गो0गृ0सू0 पृ0 293, द्रा0 व खा0गृ0सू0 1.3.11, जै0गृ0सू0 19/15
4. गो0गृ0सू0 पृ0 294, द्रा0व खा0गृ0सू0 1.3.11
5. जै0गृ0सू0 7.16, द्रा0 व खा0गृ0सू0 2.3.19, गो0गृ0सू0 2.8.13
6. गो0गृ0सू0 3.8.2, द्रा0वखा0गृ0सू0 3.3.2

कामना करता हुआ कहता है –'प्राणनांग्रन्थिरसि'[1]

सूर्य का औषधात्मक स्वरूप :-

प्राणियों के प्रति रक्षणधर्मिता के ही कारण सूर्य को जगत का पिता कहा जाता है–'पातिरक्षति इति'। सूर्य के बिना तो इस जगत का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। सूर्य कितने ही ज्ञात और अज्ञात कोटादिका नाश अपनी किरणों से करता है – देवस्त्वा'।[2] इस प्रकार रोगोत्पाद कीटाणुओं के नाश से ही रोगोन्मूलन सम्भव है। इसी तथ्य की पुष्टि सूर्य को दोषों के संस्कर्ता के रूप में किया गया है।[3] निष्क्रमण प्रसंग में एक मन्त्र[4] में सूर्य दर्शन का विधान है। पिता बच्चे को सूर्य का दर्शन कराता है। सूर्य के रोगोपशमनक गुण ही इस महत्ता के हेतु हैं। चूड़ाकरण में सूर्य का स्वागत[5] भी इसी भावना से युक्त है। उपनयन प्रकरण में प्रयुक्त सावित्रीमन्त्र (गायत्रीमन्त्र) में सूर्य की स्तुति की गई है। कहा गया है कि हम सविता के वरेण्य भर्ग (तेज) को धारण करते हैं। वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करे। इस प्रकार इस मन्त्र में सूर्यमें बुद्धि को तीक्ष्ण करने का स्पष्ट उल्लेख है। सूर्यउस ईश्वरीय नियम का प्रतिनिधि है जो सम्पूर्ण विश्व का नियमन करता है। विद्यार्थी सूर्य से अपने कर्त्तव्य का अनुशासन से अविचालित रूप से पालन की शिक्षा ग्रहण करता है। इसी प्रसंग में सूर्य के तर्पण का भी उल्लेख है। सूर्य के इसी सूक्ष्म गुणों को देखकर मन्त्रों में इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा बड़े आदर के साथ की गई है।[6] यहाँ तक कि सूर्य प्राणियों के जीवन के निमित्त कहा गया है।[7]

---

1. जै०गृ०सू०1.13,गो०गृ०सू०2.10.24, द्रा० व खा०गृ०सू० 2.4.15
2. गो०गृ०सू० 1.7.23, जै०गृ०सू० 2.13, द्रा० व खा०गृ०सू० 1.2.14
3. गो०गृ०सू० पृ० 337
4. पा०गृ०सू० 1.17.5.6
5. अ०वे० 6.68.2
6. जै०गृ०सू० 23.10, गो०गृ०सू० पृ० 423, 537, 802, 815, द्रा० व खा०गृ०सू० 2.4.7
7. गो०गृ०सू० पृ० 846

इस प्रकार सूर्य औषधि रूप में सम्पूर्ण चराचर जगत का आधार है। उसकी किरणें प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में प्राणियों के बाह्य और अन्तः दोनों कलुषिमाओं को समाप्त करती हैं। बाह्य कलुषिमा से तात्पर्य है अन्धकार और अन्तः कलुषिमा से तात्पर्य है पृथ्वीरस्थ औषधियों को परिपक्व कर उनके द्वारा प्राणियों की आन्तरिक मलीनता अर्थात् रोगों को दूर करना। इसी कारण यजुर्वेद में सूर्य को जगत का आत्मा कहा गया है।[1]

अग्नि का औषधात्मक स्वरूप :-

सम्पूर्ण संसार के लिए अग्नि आवश्यक है। वेदों में सर्वप्राचीन ऋग्वेद में सर्वप्रथम अग्नि की ही स्तुति की गई है।[2] मन्त्रदृष्टा ऋषियों ने अग्नि में बहुविधि तत्वों को देखा। इन तत्वों में रोगोयशमनक शक्ति, रोगोविनाशक व आयुष्कर शक्ति एवं विविधकार्यो वाली शक्ति।

प्राचीन काल में सूक्ष्म रोग जो चिकित्सा की भाषा में असाध्य थे उनको राक्षस की संज्ञा प्रदान की गई है। ऐसे रोगों को अराति अर्थात् शत्रुरूप में सम्बोधित किया जाता था। ऐसे रोगों से मुक्ति के लिए गृह्यसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों में अग्नि की उपासना की गई है। पाकयज्ञ अवसर पर स्थालीपाक के समय कर्मप्रदीषोक्त प्रायश्चितों की चर्चा करते समय अग्नि की उपासना इसी रूप में की गई है।[3] इसी प्रसंग में पाँचवी ऋचा के वर्णन के समय अग्नि को औषधियों की आत्मा के रूप में चित्रित किया गया है।[4] अग्नि के इन्हीं गुणों को देखकर उपनयन संस्कार में प्रयुक्त एक मंत्र में आचार्य अग्नि को आचार्य रूप में उपदेशित करता है। इसी संस्कार के अवसर पर अग्नि में समिधादान करते समय निम्न प्रकार से प्रार्थना की गई है –

---

1. *यजुर्वेद – 7.42*
2. *ऋग्वेद – 1.1*
3. *गो0गृ0सू0 पृ0 257*
4. *वही*

हे जातकेद, जिस प्रकार तू समिध से समिद्ध है, उसी प्रकार मैं जीवन, अन्तर्दृष्टि, तेज, प्रज्ञा, पशु तथा ब्रह्मवर्चस् से समिद्ध होवूँ। मैं अन्तदृष्टि से पूर्ण बनूँ और अन्न का भोग करूँ।[1] विवाह के अवसर पर प्रयुक्त एक मन्त्र में अग्नि में आहुति समय उसके विषय में एक मन्त्र में कहा गया है कि 'वह वृद्ध और कुमार को न मारे और मनुष्यों तथा पशुओं के लिए मंगलकारी हो।[2] उपनयन प्रकरण में अग्नि को आचार्य रूप में कहा गया है।[3] पाकयज्ञ के अवसर पर हविषों की आहुति में साधारण नियमों का वर्णन करते समय अग्नि मं मृत्युपाश से मुक्ति की कामना की गई है।[4] विवाह के अवसर पर किये जाने वाले चतुर्थी कर्म में अग्नि को दोषों का निष्कर्ष बतलाया गया है। अग्नि ऐसा तत्व है जो शारीरिक दोषों का परिमार्जन कर गुणों में अर्थात् आरोग्यता को प्रदान करता है।[5] जातकर्म संस्कार में मेधाजनन के अवसर पर सर्पिप्राशन कराते हुए अग्नि से मेधाप्राप्त की कामना की गई है। 'मेधां ते विभावरूणौ।[6] आयुष्य जो जातकर्म का द्वितीय कृत्य है, में शिशु की नाभि अथवा दाहिने कान के निकट पिता गुनगुनाता हुआ कहता है 'अग्नि दीर्घजीवी है, वह वृक्षों में दीर्घजीवी है। उस दीर्घ आयु से मैं तुझे दीर्घायु करता हूँ।[7] इससे स्पष्ट है कि अग्नि में दीर्घजीवन प्रदान की शक्ति विद्यमान है। उपनयन के अवसर पर माणवक की रक्षा का सर्वविध अधिकार अग्नि को दिया गया है और अग्नि से यह प्रार्थना की गई है कि मैं बालक के शरीर को तुझे सौंपता हूँ। तुम इसको इसी प्रकार से आरोग्य रखना।[8] अग्नि में यह उपयोग धर्मिता केवल देहधारियों के लिए ही नहीं है, बल्कि

1. पा०गृ०सू० – 2.5.1-8
2. शां०गृ०सू०- 1.6-7
3. शां०गृ०सू० – 2.3.1
4. मं०ब्रा०- 1.1.10
5. गो०गृ०सू० पृ० 336, जै०गृ०सू० 23.6
6. गो०गृ०सू० पृ० 398, द्रा० व खा०गृ०सू० 2.2.35
7. पा०गृ०सू० 1.16.6
8. गो०गृ०सू० पृ० 481

अग्नि औषधियों को भी सुखकर अर्थात् प्रभावशाली बनाता है। पाकयज्ञ के अवसर पर अग्नि से कहा गया है कि वह देवताओं से पहले ब्रीहयादि हवि का भक्षण करे और हम लोगों के लिए औषधियों को सुखकर बनावे।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कारों का प्रथम व सर्वाधिक स्थाई अंग अग्नि ही है। आर्यो के धर्म में अग्नि का महत्व सर्वप्राचीन है। लोगों का विश्वास था कि अग्नि रोग, राक्षसों और अन्य अमंगल शक्तियों से रक्षा करता है। इसलिए सम्पूर्ण संस्कारों के अवसर अग्नि का आराधन किया जाता था। संहिताओं में भी यह भावना भावित है। यज्ञ में सत्यधर्मा अग्नि की उपासना करनी चाहिए। वह रोगों का नाश करता है।[2] हे अग्नि तुम मुझे अर्न्तदृष्टि प्रदान करो, स्मरण शक्ति प्रदान करो, मुझे गौरवशाली बनाओं, मुझे तेजस्वी और दीप्तिमान बनाओ।[3]

जल का औषधात्मक स्वरूप :-

जल ही जीवन है ऐसी धारणा लोक में पायी जाती है। शरीर संरचना पंचतत्वों से हुई है और पंचतत्वों में सर्वाधिक अंश जल का ही है। जल स्वयं एक औषधि है। यहाँ जल से तात्पर्य शुद्ध जल से है। जिस प्रकार शुद्ध जल औषधि है उसी प्रकार अशुद्ध जल अत्यन्त हानिकर है। गृह्यसूत्रों में एक स्थल पर जल के भीतर अशान्त अर्थात् रोगकारकतत्व का उल्लेख किया गया है और उससे बचने की कामना की गई है।[4] चूड़ाकरण संस्कार में विनियुक्त एक मन्त्र में जल की प्रार्थना की गई है।[5] गृह्यवेश के अवसर पर गृह्याग्नि को स्थापित करते समय जिस मन्त्र का विनियोग किया जाता है उसका भावार्थ है- मंगलमय मन से अग्नि की स्थापना कर रहा हूँ। वे धनों के आधायक बने। अपस् हमारे वृद्ध और कुमार की हिंसा न करे। अपस्

1. जै0गृ0सू0 25.3, गो0गृ0सू0 पृ0 682
2. ऋ.वे. 1.12.7
3. आ0गृ0सू0 1.22.1
4. गो0गृ0सू0 पृ0 662, द्रा0 व खा0गृ0सू0 3.1.12
5. पा0गृ0सू0 2.1.4

द्विपदो (मनुष्यों) और चतुष्पदों (पशुओं) के लिए मंगलकारी होंवे।[1]

समावर्तन संस्कार में विनियुक्त एक मन्त्र में अशुद्ध जल के अन्तर्गत शरीर नाशक आठ प्रकार की अग्नियों का उल्लेख पाया जाता है। 'ये आस्वन्तः'[2]। अतः शुद्ध अर्थात् स्वच्छ जल का प्रयोग भी निहित है। जल के औषधात्मक तत्व के कारण उससे प्राप्त दीप्तिकरतत्व का बोध होता है - 'योरोचनः'।[3] के कारण ही जल से तेज, ब्रह्मचर्य, बल, इन्द्रियपुष्टि व वीर्यादि की प्राप्ति होती है।[4] जल के द्वारा ही हमारा खाया हुआ पचता है, इससे प्राण, बलव नीरोगता बढ़ती है। जलों में विद्यमान अमृतत्व से जीवनी शक्ति की बृद्धि होती है। जलों द्वारा अन्नपाचन सम्बन्धी क्रिया का भी उल्लेख गृह्यसूत्रों में पाया जाता है। उपनयन प्रसंग में विनियुक्त एक मन्त्र में कहा गया है कि 'अमृतोपस्तरणम्' एवं आमृतषिधानम्'।[5] अर्थात् जल को अन्न की शैय्या व अन्न का आवरण अर्थात् आच्छादक कहा गया है। इससे जल द्वारा अन्न के पाचन क्रिया का संकेत ज्ञात होता है। गर्म जल सब प्रकार से रोगरहित व कल्याणकारी होता है। चूड़ाकरण प्रसंग में विनियुक्त मन्त्र में गर्मजल से शरीर को भिगोना व जल से प्राप्त जीवनी शक्ति का क्रमशः उल्लेख प्राप्त होता है - 'उष्णेनवाय'[6]।

उपर्युक्त वर्णनों से यही स्पष्ट होता है कि शुद्ध अर्थात् औषधात्मक जल के माध यम से जीवन को नीरोग कर सुखमय जीवन की प्राप्ति की जा सकती है।

वायु का औषधात्मक रूप :-

शरीर निर्माणक पंचतत्वों में वायु का भी महत्वपूर्ण स्थान है। वायु के बिना तो जीवों का जीवन ही सम्भव नहीं है। जिस प्रकार जल औषधियों को शरीर में प्रवेश कराने हेतु होता है, उसी प्रकार वायु भी।

1. शां०गृ०सू० 3.4.2
2. गो०गृ०सू० पृ० 621, द्रा०व खा०गृ०सू० 3.1.11
3. गो०गृ०सू० पृ० 622, द्रा० व खा०गृ०सू० 3.1.12
4. गो०गृ०सू० पृ० 622
5. वही पृ० 483
6. गो०गृ०सू० पृ० 436, द्रा०व खा०गृ०सू० 2.3.21, जै०गृ०सू० 9.4

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में वायु की पाँच कोटियाँ निश्चित की गई हैं, जिसे पंचवायु या पंचप्राण भी कहा जाता है –'वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा।[1] गृह्यसूत्रों के मन्त्रों में भी पंचप्राणों का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] आग्रहायणी कर्म में प्रयुक्त एक में प्राणवायु को सम्बोधित करके कहा गया है– हे प्राणवायु, तुम यह हो। मैं सत्य कहता हूँ तुम सभी में प्रविष्ट हो। तुम यह हो। मेरे शरीर में जरा और रोग को दूर करो। हमारे लिए कल्याणकारी होवो – 'आमोसि.........अभिमृशति।[3] गायों के गोष्ठ में चले जाने पर जिस मन्त्र के विनियोग का विधान है उसमें वायु के शुभकारी होने की बात कही गई है – 'मयोभूर्वात्'।[4] देवतर्पण के समय वायु को तृप्त करने का उल्लेख प्राप्त होता है – वायुस्तृप्यतु।[5] यदि किसी कारणवश प्राणादि वायु शिथिल पड़ गये हो तो उनमें बलवृद्धि की कामना गृह्यसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों में की गई है – 'इमं युरुक्तात्।[6] वायु को दोषों का निष्कर्ता भी कहा गया है।[7] वायु को कृशन अर्थात हृदय अधिष्ठातृदेव व कष्टकारी कहा गया है।[8] गृह्यसूत्रों में प्राणवायु को सबसे अधिक महत्वशाली बतलाया गया है। प्राण को साक्षात् रोग रूप कहा गया है। प्राणी को सभी रोगों में अनुप्रविष्ट कहा गया है। शरीर से बुढ़ापा रोग व शारीरिक पीड़ादि आदि के नाश की कामना प्राणवायु से की गई है। इन्द्र से मुख्यतया प्राण के अपगत रोग की कामना की गई है। प्राण को अकाल शरीर से न निकलने की भी कामना की गई है।[9] ऋषि को इतने से ही सन्तोष नहीं होता वह बार–बार प्राणरक्षा की

1. चं०सं०सू०स्था०अ०12
2. गो०गृ०सू० पृ० 325
3. शां०गृ०सू० 3.8.4
4. शां०गृ०सू० 3.9.5
5. शा०गृ०सू० 4.9.3
6. जै०गृ०सू० 12.6–8, द्रा० व खा०गृ०सू० 2.4.20, गो०गृ०सू० 2.10.33
7. गो०गृ०सू० पृ० 337, द्रा० व खा०गृ०सू० 1.4.12
8. गो०गृ०सू० पृ० 481
9. वही पृ० 681

कामना करता है।[1]

इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि वायु एक महत्वपूर्ण तत्व है। आधुनिक युग में लोगों का ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं है। यदि वायुचिकित्साप्रणाली को विकसित किया जाता तो सम्पूर्ण विश्व के स्वास्थ्य को सुधारा जा सकता है। आधुनिक काल में वैज्ञानिक इसलिए वायु प्रदूषण से चिन्तित है। यदि हम वायु भेषजकक्ष को बनाकर वायु में औषधियो को प्रसारित कर रोगियों को उनमें प्रविष्ट कराकर चिकित्सा करें तो चिकित्सा अत्यन्त प्रभावशाली होगी। भेषज वायु का प्रभाव फेफड़ों पर पड़ेगा तथा इससे रक्त शोधित होगा व रोग का शमूल नाश होगा।

भिन्न-भिन्न रोगों को चिकित्सा में भिन्न-भिन्न वातगृह बनाकर की जा सकती है। वायु के इन्हीं गुणों को देखकर ऋषि पुनः वायु की प्रार्थना करता हुआ कहता है - वायो व्रतपते।[1]

---

1. गो0गृ0सू0 पृ0 681
2. गोगृ0सू0 पृ0 473, द्रा0 व खा0 गृ0सू0 2.4.7

अध्याय पंचम
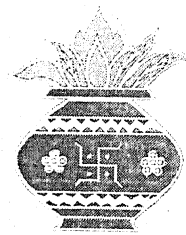
पंचम अध्याय
संस्कारों के अन्य औचित्य

गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कारों का पिछले दो अध्यायों में आयुर्वैज्ञानिक अध्ययन किया गया। इस अध्याय में उन्हीं संस्कारों के अन्य औचित्य या उद्देश्यों की चर्चायें करेंगे।

संस्कार हमारे हिन्दू धर्म के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। ये ऐतिहासिक दृष्टि से धार्मिक एवं सामाजिक ऐक्य के लिए अति महत्त्वपूर्ण माध्यम रहे। ये अत्यन्त दीर्घकाल से चलकर आज भी अनवरत् रूप से चले आ रहे है। जो इनकी जीवन्त शक्ति के सूचक है। ये वेदों, ब्राह्मणों, धर्मसूत्रों, गृह्यसूत्रों एवं स्मृतियों आदि में वर्णित रहे। संस्कार अपने मूल में तो प्राकृतिक रहें किन्तु आगे चलकर, सामाजिक, वैज्ञानिक व सांस्कृतिक स्वरूपों को प्राप्त किये।

संस्कार मानव तथा अदृश्य शक्तियों के बीच कड़ी का काम करते हैं। संस्कारों के आधारभूत तत्वों के ज्ञान के बिना वे हास्यास्पद या नाटकीय लगते हैं। अतिप्राचीन काल में लोगों के भीतर यह विश्वास था कि ये अतिमानुषी शक्तियाँ मानव के जीवन में हस्तक्षेप उत्पन्न कर सकती हैं। अतः इनके प्रतिकार के लिए एवं अवसरों को अपने अनुकूल बनाने के लिए संस्कारों को किया जाना लोगों ने आवश्यक माना।

संस्कारों में सहायक विविध विधि विधान आचार, विचार, प्रथायें आदि सार्वभौम हैं। हर धर्म की संस्कृतियों में इनका स्थान नियत है। आज के उपयोगितावादी युग में भी संस्कारों के सिद्धान्त क्रियाकलापों आदि पर क्षमता, धैर्य व रूचि पूर्वक अध्ययन करें तो इनकी महत्ता स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है। संस्कारों की आधारभूत प्रथायें, विश्वासादि पर्याप्त मात्रा में सुसंगत एवं युक्तियुक्त है।

समाज विज्ञान की दृष्टि से भी संस्कारों का अध्ययन बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रत्येक समाज अपने मूल्यों और धारणाओं को सजीव और सुरक्षित रखने

के लिए उनके प्रति निष्ठा और विश्वास उत्पन्न करता है। मात्र विधि विधानों और संविधान पर आधारित रहने वाली सामाजिक व्यवस्था चिर स्थानीय नहीं रह सकती। चिर स्थायी होने के लिए उसकी जड़ का समाज के लोगों के मन में गहराई तक होना आवश्यक होता है। और जड़ को गहराई तक पहुँचने के लिए लोगों का संस्कृत होना आवश्यक है। लोगों के संस्कृत होने के लिए संस्कारों की उपयोगिता है।

अशुभ भावनाओं का दूरीकरण :-

अशुभ अर्थात् अवांक्षनीय भावनाओं को दूर करने के लिए संस्कारों में अनेक साधन विहित हैं। उन साधनों में आराधना का स्थान मुख्य है। अशुभ कारकों को भोजन व बलि आदि के विधान गृह्यसूत्रों में उपलब्ध हैं। गृह स्वामी अपने आश्रितों को सुरक्षित रखने के लिए दैवीय शक्तियों के साथ ही साथ भूत आदि की भी स्तुतियाँ करता था इन स्तुतियों से संन्तुष्ट होकर वे बिना हानि पहुँचाये वापस लौट जाते हैं। ऐसे प्रयोजन इन आराधनाओं में निहित थे यदि शिशु पर रोग वाही भूत आक्रमण करता है तो पिता कहता है कि शिशुओं पर आक्रमण करने वाले कुर्कुर, सुकुर्कुर शिशु को मुक्त कर दो। हे शिशिर मैं तुम्हारे प्रति आदर प्रकट करता हूँ।[1]

यदि प्रार्थनाओं से काम न बने तो बहकाने की क्रिया प्रयुक्त की जाती थी। बहकाकर उन अशुभ शक्तियों को दूर रखा जाता था। जैसे- मुण्डन के अवसर पर कर्तन किये गये केशों को गाय के गोबर में मिलाकर नदी में फेंक दिया जाता था। या गोष्ठ में ही गाड़ दिया जाता था। इस क्रिया का लक्ष्य था कि ये अशुभ शक्तियाँ शिशु पर अपना प्रभाव न डाल सके ।[2] अन्त्येष्टि क्रिया में भी इसी बहकाने की भावना एक स्थल पर दृष्टिगत होती है। जैसे- बहकावे के लिए मृत्यु के अति निकट आने पर मरणासन्न व्यक्ति के पुतले का दाह किया जाता था।[3] इन क्रियाओं में यह भाव

1. आ०गृ०सू० 1.15, गो०गृ०सू० 2.7.17, पा०गृ०सू० 1.16.20
2. पा०गृ०सू० 2.1.20
3. कौ०सू० 48-54

निहित था कि मृत्यु जब मरणासन्न व्यक्ति के शरीर पर आक्रमण करे तो तथाकथित (पुतले) मृत व्यक्ति के कारण भ्रमित हो जाए।

इनके अतिरिक्त अशुभ व्यक्तियों के दूरीकरण के लिए अनेक प्रार्थनाएँ भी मन्त्रों में विद्यमान है- जातकर्म के समय शिशु का पिता कहता है- 'शुण्ड, मर्क, उपवीर्य, सौण्डिकेय, उलूखल, मालिम्लुच, द्रोक्षास, च्यवन तुम सभी यहाँ से अदृश्य हो जाओ।[1] चतुर्थी कर्म के अवसर पर पति नव विवाहिता पत्नी के घातक तत्वों के निवारण में उद्देश्य से अग्नि, वायु, सूर्य तथा गन्धर्व का आह्वान करता था।[2]

प्रत्येक संस्कार में जल का प्रयोग किया जाता है। जल तो शारीरिक अशौच को दूर करता ही है साथ ही साथ राक्षसों का भी नाशक कहा गया है, सतपथ ब्राह्मण की भी ऐसी ही अवधारणा है।[3]

विद्यार्थी द्वारा दण्डधारण करने का विधान गृह्यसूत्रों में है।[4] अपने मार्ग में आने वाली किसी भी अमंगल सम्भावना का सामना करने के लिए वह इस प्रकार की क्रिया को करता था। विद्यार्थी जीवन तक तो वह दण्ड धारण करता था, इसके पश्चात् समावर्तन संस्कार में दृढ़तर दण्ड धारण करता था- "वैष्णवं दण्ड मादत्ते।[5]" इस अवसर पर यह स्पष्ट रूप में कहा गया है कि पशुओं और मानव पशुओं से रक्षा के लिए ही नहीं राक्षस और पिशाचों से रक्षा के लिए यह उपयोगी है।[6] दण्ड को वेग के साथ घुमाना अशुभ प्रभावों के दूरीकरण का एक प्रभाव है। सीमान्तोनयन में केशों को एक भावना के साथ सँवारा जाता था।[7]

---

1. आ0गृ0सू0 1.15, पा0गृ0सू0 1.16.19
2. पा0गृ0सू0 1.11.2.1-5
3. श0ब्रा0 - आपो हि वै रक्षोघ्नीं।
4. पा0गृ0सू0 2.5.16, आ0गृ0सू0 1.19.10
5. पा0गृ0सू0 2.6.26
6. वही
7. हा0गृ0सू0 2.2, आ0गृ0सू0 14

शुभ भावनाओं का शुभ प्रभाव :-

विभिन्न संस्कारों पर संस्कार व्यक्ति के कल्याण के लिए अभीष्ट प्रभावों को आमंत्रित और आकृष्ट किया जाता था। हिन्दुओं का यह विश्वास था कि जीवन का हर क्षण किसी न किसी देवता से अधिष्ठित है। इसलिए विविध संस्कारों के अवसर पर देवताओं को उद्‌बोधित किया जाता था। उदाहरणार्थ – विष्णु गर्भाधान काल के समय के देवता है अतः इस अवसर पर विष्णु का आह्वान किया जाता है।[1] इसी प्रकार विवाह के समय प्रजापति, उपनयन के समय ब्रहस्पति आदि देवताओं का आह्वान किया जाता है। इन कार्यों में शुभ हो इसलिए उस समय के मुख्य देवताओं व अन्य देवताओं की प्रार्थनाएँ की जाती थी। हिन्दुओं ने देवताओं की स्तुतियों के साथ ही साथ विविध उपायों से भी शुभ प्राप्त किये थे। सीमान्तोनयन संस्कार के समय उदुम्बध वृक्ष की शाखा का गर्भणी को स्पर्श कराया जाता था।[2] यह कार्य इस विश्वास के साथ किया जाता था कि इससे स्त्री में संतति प्रजबन की क्षमता बढ़ जाती है। विवाह में शीलारोहण से दृढ़ता बढ़ जाती है। उपनयन में हृदय स्पर्श से ब्रम्हचारी व आचार्य में ऐक्य प्रतिपादित होने की भावना है। जातकर्म संस्कार में नवजात शिशु के मुख में तीन बार फूकने के विधान द्वारा स्वास प्रस्वास के दृढ़ होने की भावना निहित है। पुत्र प्राप्ति के लिए इच्छुक माँ को दधि मिश्रित हिदल वाले अन्नों के खाने का विधान है।[3]

विवाह के अवसर पर वर समस्त देवों और जल से आपस के प्रेम एवं एकता के प्रादुर्भाव की कामना करता है।[4] इसे समञ्जन क्रिया कहते हैं। इस क्रिया के पीछे यह अवधारणा थी कि अशुभ परिस्थितियों के निवारण ही गर्भिणी को विजन्या आदि

1. विष्णुर्योनिं कल्पयतु..... । ऋ०वे० 10.184
2. गौ०गृ०सू० 2.7.1, पा०गृ०सू० 1.15.4.6
3. आ०गृ०सू० 1.13.2, हा०गृ०सू० 2.2.23
4. गौ०गृ०सू० 2.1.18 व पा०गृ०सू० 1.4.15

कहना,[1] सीमान्तोनयन में चावल के ढ़ेर को देखने को सौभाग्य, दीर्घायु आदि को देखना[2] आदि क्रियाएँ शुभ भावनाओं के शुभ प्रभाव के द्योतक हैं।

भौतिक उद्देश्यों की पूर्ति के पूरक संस्कार :-

गृह कृत्यों में संस्कारों का महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कारों में विनियुक्त मंत्रों में भौतिक पदार्थो पशु, संतान, बुद्धि, धन, दीर्घ जीवन आदि की प्राप्ति के निमित्त अन्य प्रार्थनाएँ हैं। हिन्दुओं में ऐसी भावना निहित थी कि प्रार्थनाओं के माध्यम से देवगण उनकी इच्छाओं को जान लेते हैं और इसके आधार पर उनकी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं।[3] इस प्रकार संस्कार हमारी भौतिकता पूर्ति में अत्यन्त सहायक हैं।

संस्कारों का भावनात्मक सम्बन्ध :-

संस्कारों का सम्बन्ध संस्कार की भावना से भी है। सुखात्मक और दुखात्मक दोनों भावनाओं में संस्कारों के प्रयोजन निहित हैं। जीवन की हर घटनाओं हर्ष, आनन्द और दुःख के अवसरों पर संस्कार किये जाते हैं। शिशु के जीवन में प्रगति का संचार, संतान की प्राप्ति की लुभावनी भावना, शिशु के जन्म के समय असीम आनन्द, मृत्यु के अवसर पर चतुर्दिक करूणा आदि भावनाओं के संस्कारों के माध्यम से जुड़े हैं। जीवन की हर घटना पर संस्कार इसी भावना से भावित होकर किये जाते थे।

संस्कार धर्म और पवित्रता की वृद्धि में सहायक :-

संस्कारों के विधि निर्माताओं ने संस्कारों में सर्वोच्च धर्म और पवित्रता को समावेशित किया। इसी सन्दर्भ में आचार्य मनु ने अपना विचार प्रकट करते हुए कहा है - गार्भ होम, जातकर्म, चूड़ाकरण और मौञ्जीबन्धन संस्कार के अनुष्ठान से द्विजों के गर्भ तथा बीज सम्बन्धी दोष दूर हो जाते हैं।

1. आ0गृ0सू0 3.9.6, पा0गृ0सू0 2.7.11-13
2. मं0ब्रा0 1.5.1-5
3. शां0गृ0सू0 1.14.5

'गार्भैहोमजातिकर्म चौडमौञ्जी निबन्धनैः।
बौजिकं गार्भिकश्चैनो हि जानामपमृज्यते।।[1]

इसी सम्बन्ध में उनका कहना है कि द्विजों को गर्भाधान आदि शारीरिक संस्कार वैदिक कर्मो के साथ करने चाहिए, जो इह लोक तथा परलोक दोनों को पवित्र करता है -

'वैदिकैःकर्मभिःपूर्णयैनिशेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीर संस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च।।[2]

महर्षि याज्ञवल्क्य भी इसी भावना से भावित हैं।[3]

शरीर आत्मा का निवास स्थान है, अतः आत्मा के घर शुद्ध बनाने के लिए ही हमारे पूर्वजों ने इन संस्कारों को करना प्रारम्भ किया। व्रत होम स्वाध्याय, तर्पण एवं यज्ञादि से यह शरीर ब्राह्मी हो जाता है, अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति के योग्य हो जाता है-

स्वाध्यायेन जपैहोमिस्त्रौविद्येनेन्यया स्रेतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीमं क्रियते तनुः।।[4]

इसी सम्बन्ध में आचार्य मनु कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जन्म से शूद्र होता है, जब उसका यज्ञोपवीत संस्कार होता है तो वह द्विज हो जाता है। वेदपाठ से विप्र और वेदों के रहस्यज्ञान से ब्राम्हण हो जाता है -

'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
वेद पाठाद्यवेदविप्रः ब्रह्म जानीतीति ब्राह्मणः।।[5]

सामाजिक अधिकार की प्राप्ति :-

कुछ सामाजिक अधिकार भी संस्कारों के माध्यम से प्राप्त हो जाते थे। उपनयन

1. म0स्मृ0 2.27
2. म0स्मृ0 2.26
3. याज्ञ0स्मृ0 1.16
4. म0स्मृ0 2.28
5. म0स्मृ0

के माध्यम से विद्यार्थी को धार्मिक साहित्य में प्रवेश का अधिकार प्राप्त हो जाता है। गृहस्थ आश्रम में प्रवेश पाने के लिए समावर्तन संस्कार था। उपनयन और विवाह के अवसरों पर प्रयुक्त वैदिक मंत्रों के माध्यम से किसी भी व्यक्ति को सम्पूर्ण यज्ञों के अनुष्ठान करने का अधिकार प्राप्त हो जाता था।

मोक्ष प्राप्ति :-

संस्कारों का एक प्रयोजन मोक्ष प्राप्ति भी है। जब बड़े-बड़े यज्ञों से लोग परिचित नहीं थे तब केवल देवताओं की आराधना एवं सामान्य यज्ञ ही मोक्ष प्राप्ति के साधन माने जाते थे। इस प्रकार संस्कारों को इस विषय में विशेष महत्ता प्राप्त थी। इस विषय में हारीत का कहना है कि वाह्य संस्कारों से परिष्कृत व्यक्ति ऋषित्व को प्राप्त कर लेता है एवं दैव संस्कारों से परिष्कृत होकर दैवत्व को प्राप्त कर लेता है।[1] दैवत्व से भाव यहाँ मोक्ष की प्राप्ति ही है। मोक्ष ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है जो इन संस्कारों के माध्यम से सम्भव है।

आत्म गुणों का विकास :-

कालक्रमानुसार संस्कारों के स्वरूप से आत्मगुणों का विकास हुआ। 40 संस्कारों की गणना करने के पश्चात् गौतम ने दया, क्षमा, अनुसूया, शौच, सम, उचित व्यवहार, निरीहता एवं निर्लोभता इन आठ आत्म गुणों का विकास संस्कारों से ही मानते हैं।[2] इसी क्रम में आगे कहते हैं कि जिस व्यक्ति ने चालीस संस्कारों का अनुष्ठान तो किया है, किन्तु जिसमें उक्त आठ आत्म गुण नहीं है वह ब्रह्म का साहित्य प्राप्त नहीं कर सकता। इसके विपरीत ब्रह्म साहित्य प्राप्त हो जाता है।[3] संस्कार व्यक्ति के जीवन के लक्ष्य कभी नहीं रहे, बल्कि उनसे होने वाले उदात्त आत्म गुण ही मुख्य थे। इन आत्म गुणों के विकास के लिए विविध परिस्थितियों के लिए विविध धर्मो का

---

1. बी०मि०सं०भा० पृ० 139
2. गौ०ध०सू० 8.24
3. वही 8.25

प्रणयन भी हुआ – उदाहरणार्थ – गर्भिणी धर्म, अनुपनीत धर्म, ब्रह्मचारी धर्म, स्नातक धर्म आदि। निश्चित ही इन धर्मों में जो सिद्धान्त प्रतिपादित हैं उनसे आत्म गुणों का विकास होता है।

चरित्र निर्माण :-

हिन्दुओं द्वारा किये जाने वाले सभी कार्य चारित्रित निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। हिन्दू धर्म के समाज तत्व वेत्ताओं ने मनुष्य के विकास को सह जगत्या भावना से न मानकर विवेकपूर्ण वैयक्तिक चरित्र को ढ़ालने की आवश्यकता पर बल दिया है। संस्कारों का प्रयोजन इस दिशा में महत्वपूर्ण है। अंगिरा चित्तकर्म की तुलना करते हैं 'जिस प्रकार चित्तकर्म में सफलता प्राप्त करने के लिए विविध अंग उपेक्षित होते हैं उसी प्रकार चरित्र निर्माण भी विविध संस्कारों के द्वारा होता है।[1]

संस्कारों द्वारा व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन व्यवस्थित होता है। जीव के गर्भ में आने से पहले से लेकर मृत्यु के पश्चात् तक सम्पूर्ण जीवन संस्कारों से संस्कारित होता है। संस्कार मार्गदर्शक का कार्य करते हैं। ये आयु को बढ़ाने के साथ ही साथ व्यक्ति के जीवन को एक निर्दिष्ट दिशा की ओर ले जाते हैं। प्रत्येक संस्कार एक निश्चित समय में जब उनकी आवश्यकता होती थी, किये जाते थे। गर्भाधान संस्कार उस समय किया जाता था जब पति–पत्नी दोनों शारीरिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ्य होते थे एवं परस्पर एक दूसरे के हृदय की बात जानते और दोनों में संतान प्राप्ति की प्रबल इच्छा होती थी। वैदिक मंत्रों के उच्चारण से गर्भ काल शुद्ध एवं कल्याणकारी हो जाता था एवं गर्भाधान क्रिया का पूर्ण वातावरण उपस्थित हो जाता था। गर्भ के स्थित हो जाने पर दूषित शारीरिक व मानसिक प्रभावों से उसे बचाया जाता था। गर्भस्थ बच्चे पर सुप्रभाव छोड़ा जाता था। बच्चे का जन्म होने पर दीर्घायु प्राप्त करने के लिए एवं शिशु को पत्थर के समान दृढ़, परशु के तरह शत्रुनाशक एवं बुद्धिमान होने के लिए

1. बी०मि०भा० 1. पृ० 139

आशीर्वाद दिया जाता था।[1] चूड़ाकरण या मुण्डन के पश्चात् जब शिशु बालक हो जाता था तब उन्हें बिना ग्रन्थों का अध्ययन कराये कठोर नियंत्रण में रखा जाता था। तथा उत्तरदायित्वों से भली भाँति परिचय कराया जाता था। समावर्तन के पश्चात् जब वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था तो उसे परिष्कृत जीवन जीने के लिए तैयार किया जाता था। पाणिग्रहण संस्कार के समय उसे धर्मोपदेशों द्वारा भावी जीवन के विकास के लिए मार्ग दर्शन किया जाता था। गृहस्थ जीवन में किये जाने वाले विविध यज्ञ व व्रत उसे स्वार्थपरता से दूर रखने व समाज का एक अंग बनाने में पर्याप्त अवलम्बन प्रदान करता है।

संस्कार हिन्दू समाज के लिए अनिवार्य है इनका उद्देश्य सांस्कृतिक व चारित्रिक दृष्टि से समाज को एकरूपता प्रदान करना था। संस्कारों के ही कारण हिन्दू अपनी व्यापक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के साथ सम्पूर्ण संसार में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। भारत की संस्कृति ने विदेशियों को भी प्रभावित कर आत्मसात् किया।

संस्कारों का आध्यात्मिक औचित्य :-

संस्कार भौतिकता के साथ ही साथ आध्यामिक औचित्य से भी परिपूर्ण हैं। हिन्दुओं के चिन्तन की प्रमुख विशेषता आध्यात्मिकता से ओत प्रोत है। वे जीवन के अन्तिम पुरूषार्थ मोक्ष को मानते हैं। मोक्ष के दृष्टिकोंण ने संस्कारों को भी अध्यात्म साधन के रूप में परिवर्तित कर दिया। हिन्दुओं के दृष्टिकोंण में संस्कार, संस्कार्य व्यक्ति के आन्तरिक व आध्यात्मिक तत्वों के वाह्य प्रतीक थे। संस्कारों के द्वारा संस्कृत व्यक्ति यह अनुभव करता था कि सम्पूर्ण जीवन वस्तुतः संस्कारमय है। सम्पूर्ण दैहिक क्रियाएँ आध्यात्मिक ध्येय से अनुप्राणित हैं यह वह मार्ग है जिससे कार्यशील सांसारिक जीवन का समन्वय आध्यात्मिक तत्वों के साथ स्थापित किया जाता था। हिन्दुओं का यह विश्वास था कि संस्कार विद्या है और असंस्कार अविद्या। अतः विद्या

1. पा०गृ०सू० 1.16, जै०गृ०सू० 1.8. आ०गृ०सू० 14

सूचक सविधि संस्कारों के अनुष्ठान से वे दैहिक बन्धन से मुक्त होकर मृत्यु सागर को पार कर लेंगे। इस सम्बन्ध में यजुर्वेद का कहना है -

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यायां मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।[1]

संस्कारों में कथित उपवास :-

संस्कारों में उपवास को महत्वपूर्ण उपवास प्राप्त है। प्रत्येक संस्कार को सम्पादित करने के पूर्व उपवास विधान है ये उपवास बड़े ही महत्वपूर्ण व वैज्ञानिक है आयुर्वेद में भी आयुर्वेद को महत्व प्रदान किया गया है। उपवास लंघन का एक भाग है। यदि किसी कारणवश भोजन में रुचि न हो तो लंघन करना सर्वोत्तम रोग प्रतिरोध का आधार माना जाता है।[2]

जिस प्रकार चूल्हे में रखे हुए पाक पात्र में यदि जल अन्नादि डाला जाये तो उस ध्वनि के प्रभाव से तंदुल जलादि मुख्य रूप से परिपक्व होते हैं पकवान कम जलता है। यदि पात्र में अन्न जल न डाला जाय तो सम्पूर्ण अग्नि बल से प्रथम पाक पात्र में प्रलिप्त पदार्थ का और फिर पाक पात्र का ही दाह हो जायेगा। इसी प्रकार यदि नित्य भोजन किया जाता है तो जठराग्नि उस भोजन के ही परिपाक् में ही कार्य करती है, शरीर का अत्यल्प शोष होता है। यदि भोजन न किया जाता तो जठराग्नि के बल से शरीर के अन्तःकरण का ही शोष होगा। इस कारण अन्तःकरण में लगे मल का शोष होगा अतः अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा। इसलिए उपवास अन्तःकरण के शोधन का महत्वपूर्ण उपाय है। यह तय है इसके द्वारा शुद्ध किये हुए अन्तःकरण में बाहर के अनुकूल पदार्थो का आकर्षण व आधान हो सकेगा।[3]

1. यजुर्वेद 40-11
2. का0चि0 - गंगासहाय पाण्डेय, पृ0 125
3. वेदों में भारतीय संस्कृति, पृ0 276

संस्कार व होम विधान :-

प्रायः अधिकांश संस्कारों में होम का विधान है। ये होम आयुर्वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आज देश पर लोगों की अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि के संकट गहराये हैं। इन संकटों के आंशिक समाधानार्थ होम क्रिया है। होम में भौतिक व आध्यात्मिक दोनों प्रकार के रत्नों का योग है। होम के विविध विधानों का, होमों में प्रयुक्त होने वाली आयुर्वेदीय हविषों का विश्लेषण कर इसके प्रचार प्रसार पर बल देना चाहिए।

होम में अग्नि का प्रयोग होता है। अग्नि ऐसा तत्व है जो अनेक रोगोत्पादक कीटाणुओं को नष्ट करता है। होम करते समय यजमान यज्ञाग्नि के सम्मुख बैठता है, अतः स्वेदन क्रिया द्वारा अनेक रोगात्मक कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। होम करते समय उच्चरित होने वाले स्वाहाकार शब्द भी श्वास को पूर्ण करने के लिए श्वास भीतर जाती है, जिसमें यज्ञीय वायु मिश्रित रहती है इस वायु से आरोग्यता की प्राप्ति होती है। होमीय धूम से चतुर्दिक वातावरण शुद्ध होता है पंडित वीरसेन वेदश्रमी जी ने जयपुर, अहमदाबाद, बम्बई, खण्डवा में हुए अनेक होमों की चर्चा की है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि अनेक रोगियों को सम्मुख बैठाकर यज्ञ किया गया, जिनमें उन्हें प्रत्यक्ष लाभ मिला।[1]

व्याधि :-

जिस कारण से या जिसके संयोग से या मन में जिसके उत्पन्न होने से पुरूष को दुःख का अनुभव हो उसे व्याधि कहते हैं।[2] ये व्याधियाँ अनेक प्रकार की होती हैं –

1. वै०सं०- पं० वीरसेन वेदश्रमी पृ० 202
2. सु०सं० चि०स्थाप 8/11

आगन्तुक व्याधियाँ :-

वाह्य आगन्तुक कारणों से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ इस श्रेणी में आती है। देव, राक्षस, यक्ष, पिशाच रोगोत्पादक कीटाणुओं, विष, दूषित वायु, जल व अन्य विद्युत व अग्नि से उत्पन्न अभिघात, मारण के लिए प्रयुक्त आभिचारिक मंत्रबद्ध पुरूषों के साफ, संक्रमणशील व्याधियों का प्रभाव आदि के द्वारा अन्तः घटक प्रभावित होकर तत्काल ही रोग मुक्त हो जाते हैं। अतः ऐसी व्याधियों को आगन्तुक व्याधियाँ कहते हैं।

शारीरिक व्याधियाँ :-

हीनयोग, अतियोग व मिथ्या योग से प्रयुक्त आहार–विहार एवं मानसिक कर्म के कारण शारीरिक त्रिधातु में वृद्धि या क्षय रुप विकृत के कारण उत्पन्न रोग इस श्रेणी में आते हैं। व्याधियों की उत्पत्ति मुख्यतया आत्मेन्द्रिय संयोग या प्रज्ञापराध के कारण होती हैं एवं व्याधियों की व्युत्पत्ति में त्रिधातु में विषमता अनिवार्य रुप में होती है। इस कारण इन व्याधियों को शारीरिक व्याधियाँ कहते हैं।

मानसिक व्याधियाँ :-

मन जब तक शुद्ध एवं सात्विक गुणों से युक्त रहता है तब तक मानसिक अधिष्ठान को केन्द्र मानकर व्याधियाँ उत्पन्न नहीं होती लेकिन रजस् व तमस् इन दोनों मनोयोगों के प्रभाव से मानसिक वैषम्य होकर मानसिक व्याधियों का प्रादुर्भाव होता है।

आदिदैविक व्याधियाँ :-

पूर्व जन्म में किये गये कर्मो एवं काल चक्र से प्रभावित होने वाली व्याधियाँ इस कोटि में आती हैं।

आध्यात्मिक व्याधियाँ :-

आत्मा व मन को आधार मानकर होने वाली व्याधियाँ आध्यात्मिक व्याधियाँ

कहलाती हैं।

आधिभौतिक व्याधियाँ :-

भौतिक हेतुओं से उत्पन्न होने वाली शारीरिक व्याधियाँ इस कोटि में आती हैं। इन अन्तिम तीन भेदों को आधार मानकर निम्न भेद किये गये हैं :-

१. आदिबल प्रवृत्त व्याधियाँ :-

इन व्याधियों को आनुवांशिक या कुलज भी कहते हैं। दूषित शुक्र या आर्तव से उत्पन्न संतानें इन व्याधियों से प्रभावित होती हैं। इस श्रेणी के रोग है - कुष्ठ, अर्स, राजयक्षमा आदि।

२. जन्मबल प्रवृत्त व्याधियाँ :-

गर्भाधानोंपरान्त माता द्वारा त्याज्य आहार-विहार के करने से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ इस श्रेणी में आती हैं। जन्म से पंगुता, बाधिर्य, मूकता, वामता आदि व्याधियाँ इस श्रेणी में आती हैं।

३. दोष बल प्रवृत्त व्याधियाँ :-

किसी रोग से ग्रस्त व्यक्ति यदि अपना आहार-विहार समुचित नहीं रखता है तो एक व्याधि से दूसरी व्याधि उत्पन्न हो जाती है जैसे- ज्वर के अधिक संताप से कफ, पित्त एवं अतिसार से परिकर्तता आदि। उपर्युक्त तीनों व्याधियों को आत्मात्निक व्याधि कहा जाता है।

४. संघात बल प्रवृत्त व्याधियाँ :-

जब कोई कमजोर बलशाली के साथ संघर्ष करता है तो व्याधियुक्त हो जाता है। ऐसी व्याधियों को संघात बल प्रवृत्त व्याधि कहते हैं।

5. काल बल प्रवृत्त व्याधियाँ :- जो व्याधियों ऋतुओं के प्रसव से उत्पन्न होती हैं उन्हें काल बल प्रवृत्त व्याध्यिाँ कहते हैं।

६. दैव बल प्रवृत्त व्याधियाँ :-

देव आदि अद्भुत शक्तियों का विद्रोह, श्राप व अभिचार आदि के द्वारा रोगों से आक्रान्त व्यक्ति से उपसृष्ट होना आदि कारणों से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ इस श्रेणी में आती हैं। इस कोटि की व्याधियों के दो भेद किये जाते हैं- संसर्गज और आकस्मिक।

७. स्वभाव बल प्रवृत्त व्याधियाँ :-

क्षुधा, तृष्णा, वृद्धावस्था आदि दैहिक स्वभाव से उत्पन्न होने वाले पलित आदि रोग इस श्रेणी में आते हैं। इसके भी दो भेद हैं - कालज और अकालज।

विद्वानों ने एक अन्य प्रकार से व्याधियों के अन्य भेद किये हैं -

क. औपसर्गिक :-

इन्हें औपद्रविक व्याधि भी कहा जाता है। प्रथम व्याधि के बाद उस रोग के मूल से ही जो रोग बाद में उत्पन्न होता है तथा प्रथम रोग की चिकित्सा से ही शांत हो जाता है उसे इस श्रेणी में रखा जाता है।

ख. प्राक्केवल :-

जो व्याधि प्रारम्भ से ही स्वतंत्र रूप में उत्पन्न हो, जो किसी दूसरी व्याधि के पूर्व रूप में या उपद्रव रूप में उत्पन्न न हो वह प्राक्केवल व्याधि कहलाती है।

ग. अन्यलक्षण व्याधि :-

जो व्याधि भविष्य में होने वाली व्याधि के लक्षण रूप में उत्पन्न हो वह अन्य लक्षण व्याधि कहलाती है। जैसे - पित्रजन्य ज्वर से पहले होने वाला नेत्रदाह।

व्याधियों के पुनः दो भेद इस प्रकार किये जाते हैं :-

१. स्वतंत्र :-

जो व्याधि शास्त्र में निर्दिष्ट हेतुओं से उद्भूत हो शास्त्र में वर्णित लक्षणों से युक्त हो तथा निर्दिष्ट चिकित्सा से साध्य हो उसे स्वतंत्र व्याधि कहते हैं।

२. परतंत्र :-

जो व्याधि दूसरी व्याधियों के होने से प्रादुर्भूत हो, जिसके लक्षण भली भाँति स्पष्ट न हो, जो मूल व्याधि चिकित्सा से ही शांत हो वह परतंत्र व्याधि कही जाती है।

पुनः व्याधियों के तीन भेद किये जाते हैं :-

१. दोषज :-

मिथ्या आहार-विहार से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ।

२. कर्मज :-

पूर्व जन्म में किये हुए असुर कर्मो के कारण उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ।

३. दोषकर्मज :-

पूर्व जन्म के अशुभ कर्मो से तथा इस जन्म के अपथ्य सेवन से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ।

गृह्यसूत्र और व्याधियाँ

गृह्यसूत्र कर्मकाण्ड परक ग्रन्थ हैं चिकित्साशास्त्र नहीं फिर भी गृह्यसूत्रों में अनेक व्याधियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। अनकाम मंत्र[1] के संदर्भ में पापरोग अर्थात् कुष्ठ, राजयक्ष्मा आदि रोगों के उल्लेख प्राप्त होते हैं[2]। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि घर के उत्तर भाग में गूलर का वृक्ष रहने से अक्षि रोग का संकेत प्राप्त होता है।[3] जातकर्म संस्कार में आहुति देते समय कुछ व्याधियों को दूर होने की कामना की गई है। वे व्याधियाँ इस प्रकार हैं - शुण्ड, मर्म, उपवीर, शौण्डिकेय, उलूखल, मलिम्लुच, द्रोण्णास, च्यवन, अलिखित, अनिमिष, किमवदंत, उपश्रुति, हर्यक्ष, कुम्भिन शत्रु, पात्रपाणि, नृमणि, हन्तृमुख, सर्षपारुढ़ आदि।[4]

1. मं.ब्रा. 2.4.14
2. गो०गृ०सू० 4.6.2
3. गो०गृ०सू० 4.7.21
4. पा०गृ०सू० 16.19

चिकित्सा :-

प्रतिकर्म द्वारा दोषों एवं दूषित ऋतुओं की समता चिकित्सा का प्रथम एवं अन्तिम उद्देश्य माना गया है। इस विषय में कहा गया है कि -

याभिः क्रियार्भिजायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा निकाराणां कर्म तत् भिषजां स्मृतंम्।।[1]

अर्थात् जिस क्रिया के द्वारा उत्पन्न व्याधि का समन तथा विषम दोषों का प्रत्यनुवर्तन होता है, ही आदर्श चिकित्सा मानी जाती है। आदर्श चिकित्सा के प्रयोग से व्याधि एवं दोषों का समन होने के अतिरिक्त शरीर धातुओं के लिए हिततम् होना और व्याधि के प्रभाव से उत्पन्न धातु क्षम एवं दौर्बल्य का प्रतिकार करते हुए स्वास्थ्य अनुवर्तक होना भी आवश्यक होता है। ऐसा न हो कि एक व्याधि के समन के बाद दूसरी व्याधि की उत्पत्ति हो जाय अथवा शरीर सामान्यतया इतर विकारों के लिए उर्वर क्षेत्र न बन जाये। अतः आदर्श चिकित्सा में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक होता है -

1. विकृत दोषों का समन करते हुए व्याधियों का उन्मूलन करना।
2. उत्पन्न व्याधि का शमन करने के लिए शारीरिक धातुओं के लिए हिततम् होना। और किसी विकार को न उत्पन्न करना।
3. दोषों एवं व्याधि के प्रभाव से कर्षित शरीर में धातुओं का प्रत्यनुवर्तन करना।

प्रतिकर्म के उल्लिखित उद्देश्यों की सिद्धि के लिए व्यापक चिकित्सा के दो वर्ग किये जाते हैं। दोष, प्रयत्नीक चिकित्सा और व्याधि प्रयत्नीक चिकित्सा।

१. दोष प्रयत्नीक चिकित्सा :-

व्याधि के वाह्य लक्षणों पर विशेष लक्ष्य न करते हुए जिस दोष का प्रकोप होने के कारण व्याधि एवं उसके लक्षण उत्पन्न हुए हों उसे मूल हेतु का शमन करते हुए

1. च०सं० सू० स्था०16/34

दूषित धातुओं का समस्थिति में लाना दोष प्रयत्नीक या दोष विशुद्ध चिकित्सा कहलाती है।

२. व्याधि प्रयत्नीक चिकित्सा :-

प्रत्येक व्याधि का प्रधान लक्षण उसका आत्मालिंग होता है। उदाहरणार्थ अतिसार धातु एवं मलों का अतिसरण ज्वर में समताप आदि इन लक्षणों या औपद्रविक लक्षणों का उग्र स्वरूप होने पर व्याधि के समनार्थ तत्काल उपचार करना पड़ता है। इससे लाक्षणिक या औपद्रविक चिकित्सा भी कहते हैं। परम ज्वर होने पर संताप का शमन करने के लिए शीतोपचार किया जाता है और अतिसार में अधिक विरेचन होने पर गम्भीर स्थिति के प्रतिकार करने के लिए सद्यः स्तम्भ व्यवस्था आवश्यक होती है।

रोग विर्निमुक्ति तथा पोषक आहार आदि की प्राप्ति की दृष्टि से चिकित्सा के दो वर्ग दृष्टिगत होते हे:-

1. लंघन या अपतर्पण चिकित्सा।
2. वृंहण या संतर्पण चिकित्सा।

इसमें प्रथम का सम्बन्ध रोग के निराकरण तथा रूग्णावस्था में संचित शरीर दोषों का निर्हरण करने से दूसरे का सम्बन्ध शरीर को स्वस्थ रखने तथा रूग्ण होने पर व्याधि से मुक्ति के बाद व्याधि तथा दोषों के संघर्ष के कारण उत्पन्न शारीरिक दुर्बलता के निराकरण, बलसंजनन एवं शरीर की सर्वांग भाव की पुष्टि से है।

गृह्यसूत्रों में चिकित्सा :-

गृह्यसूत्रों में अनेक चिकित्सकीय कार्य उपलब्ध होते हैं जो आयुर्वेद की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दृढ़लेपन।

कर्णछेदन के समय उत्पन्न होने वाले वृण को समिति करने के लिए वृण लेपन

का विधान है[1] इसमें च शब्द का अर्थ वृणलेपन है।[2]

प्रसूति चिकित्सा :-

गृह्यसूत्रों में वर्णित गर्भाधान संस्कार के अन्तर्गत अनेक ऐसे स्थल हैं जिनमें प्रसूति चिकित्सा से सम्बन्धित अनेक अभिमत हैं। गर्भ का संस्कार व सुख प्रसव आदि के लिए अनेक प्रार्थनाएँ संकलित हैं। पुसंवन में बट वृक्ष के सुंघ के रस द्वारा गर्भ का स्थरीकरण इस दिशा का एक महत्वपूर्ण कदम है।

मणि चिकित्सा :-

मणियाँ शरीर का सम्पर्क पाकर विविध रोगों का शमन करती हैं। गृह्यसूत्रों में लाक्ष्यामय मणियों को स्वयं की रक्षा अर्थात् विविध व्याधियों से रक्षार्थ बाँधने का विधान किया गया है।[3] आयुर्वेद में भी मणियाँ रोगोपशमनक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण बतलायी गयी हैं।

विष चिकित्सा :-

विषधर जन्तु द्वारा किसी प्राणि के डसे जाने पर इसके प्रभाव को न्यून करने के लिए गृह्यसूत्रों में चिकित्सामूलक कार्यो के उल्लेख प्राप्त होते हैं। विषधर द्वारा डसे हुए प्राणि को जल से स्नान कराकर तदुपरान्त मन्त्र जप का विधान किया गया है।

कृमि चिकित्सा :-

कृमियाँ अनेक रोगों की जननी होती हैं। वे दृश्यमान व अदृश्यमान दोनों प्रकार की होती हैं। कृमियों के निर्हरण के लिए गृह्यसूत्रों में विधान उपलब्ध हैं। कृमियुक्त स्थान को जल से भली भाँति धोकर कृमि नाश के विनियुक्त मंत्र कृमि चिकित्सा का उदाहण है।

1. गो०गृ०सू० पृ० 306
2. 'च शब्याद्व्रणलेपनं च कुर्यादिति' गो०गृ०सू० पृ० 652
3. गो०गृ०सू० 3.8.6.

पशु चिकित्सा :-

गृह्यसूत्रों में मनुष्यों के चिकित्सा के अतिरिक्त पशुओं की चिकित्सा के उल्लेख मिलते हैं। गौओ का संताप दूर करने के लिए लौह चूर्ण का हवन करने का उल्लेख प्राप्त होता है। पशु हर समय स्वस्थ्य रहे इसके लिए अग्नि स्थापित कर क्षिप्र हो विधि के अनुसार 'ऊँ सहस्रबाहुः'[1] मंत्र के द्वारा यव व धान की आहुति देने का विध ाान उपलब्ध होता है।

संस्कार और स्वस्थवृत :-

मानव जीवन के चार उद्देश्य वर्णित हैं - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। शरीर स्वास्थ्य के बिना इन उद्देश्यों की प्राप्ति असम्भव है। आयुर्वेदीय ग्रन्थ स्वास्थ्य के विषय में कहते हैं -

'धर्मार्थ काम मोक्षाणांमारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्याप हर्तारः श्रेयसो जीवनस्य च।।'[2]

जो व्यक्ति स्वास्थ्य लाभ के लिए हमेशा दैनिक कृत्यों का पालन करता हुआ शास्त्रों में निर्दिष्ट दिनचर्या , रात्रिचर्या, ऋतुचर्या व आहार-विहार को अपने जीवन में प्रयुक्त करता है उस व्यक्ति का स्वास्थ्य हमेशा उत्तम रहता है, उसे प्रायः किसी भी प्रकार के औषधि सेवन की आवश्यकता नहीं होती। आयुर्वेद के दो लक्ष्य हैं - स्वस्थ्य व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा और अस्वस्थ के दोषों का शमन। स्वास्थ्य का लक्षण आयुर्वेद में इस प्रकार दिया गया है -

'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियाः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थइत्यभिधीयते।।'[3]

जिस पुरुष के त्रिदोष (वात, पित्त, कफ), आहार-पाचक जठराग्नि, रस रक्तादि

1. मं0ब्रा0 2.4.7.
2. च0सं0सू0स्था0 1/15
3. सु0सं0 सू0स्था0 15/33

सप्त धातुएँ उचित मात्रा में पायी जाती हैं और जिसकी आत्मा, मन व सम्पूर्ण इन्द्रियाँ प्रफुल्लित हो उस पुरूष की गणना स्वस्थ पुरूष के अन्तर्गत होती है।

स्वास्थ्य की रक्षा के लिए संध्या वंदन, प्राणायाम, चित्त की प्रसन्नता, हवन, सूर्य की किरणें, मानसिक विकारों - द्वेष, ईर्ष्या आदि से निवृत्ति वाणी, मन व नेत्र आदि का नियमन, ब्रह्मचर्य का पालन, सुगन्धित पदार्थो का उपभोग, सफाई आदि का महत्वपूर्ण योगदान है।

आयुर्वेद में आरोग्यार्थ विभिन्न उपाय प्रदर्शित किये गये हैं। वे सभी 'स्वस्थवृत' के अन्तर्गत आते हैं। 'स्वस्थवृत्त' में 'सद्वृत्त' की महत्वपूर्ण भूमिका है।

सद्वृत्त :-

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में सद्वृत्त के वर्णन उपलब्ध होते हैं ऐसे वर्णन गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों आदि में उपलब्ध होते हैं।[1] गृह्यसूत्रों में इन सद्वृत्तों को हम इस प्रकार देख सकते हैं - देवता, गौ, ब्राह्मण, गुरु, बृद्ध, सिद्धपुरुष, आचार्य की पूजा, अग्नि की उपासना, आम औषधियों को धारण करना, सायं प्रातः स्नान व संध्या वंदन, अहत वस्त्रों को धारण करना, सर्वदा प्रसन्न रहना, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थो को लगाना, मिलने आने वालों से सर्वप्रथम सम्भाषण करना।

गृह्य संस्कारों के परिप्रेक्ष्य में :-

उपर्युक्त वर्णित सद्वृत्त का गृह्य संस्कारों में भी वर्णन उपलब्ध होते हैं। स्नातक के नियमों[2] का वर्णन करते समय स्नातक को वृद्ध शीली[3] अर्थात् बड़ों, देवता, ब्राह्मण, गुरु एवं सिद्ध पुरूष आदि की सेवा करने का विधान है। अधिकांश संस्कार गृह्य आदि में करने का नियम है। इसलिए प्रत्येक घर में हर समय अग्नि स्थापन का भी विधान है। मणियों को धारण करने[4] का विधान है। समावर्तन संस्कार

1. च०सं०सू०स्था० अ० 8
2. गो०गृ०सू० पृ० 633, पा०गृ०सू० 2.5.32.
3. गो०गृ०सू० 3.5.1.
4. वही पृ० 672

के बाद बालों को कटवाने का विधान है[1] एवं इसी समय नये व स्वच्छ वस्त्रों को धारण करने को कहा गया है।

सद्‌वृत्त :-

प्रसन्न मुख रहना, दूसरों पर आपत्ति आने पर दया करना, हवन और यज्ञ करना, सामर्थ्य के अनुसार दान देना, कुत्ता आदि को बलि देना, अतिथियों की पूजा करना, पितरों को पिण्ड देना, जितेन्द्रिय होना, धर्मात्मा होना, निश्चिन्त, निडर, लज्जा युक्त, बुद्धिमान, उत्साही व चतुर होना चाहिए। छत्र व दण्ड धारण करना चाहिए। सभी प्राणियों के साथ आत्मीय व्यवहार करना चाहिए।

गृह्य संस्कारों के परिप्रेक्ष्य में :-

गृह्य संस्कारों में भी इन विषयों के पर्याप्त उल्लेख होते हैं। गृह्य संस्कारों के अन्त में ब्राह्मण भोजन व दान देने का विधान किया गया है। स्नातक के नियम का निर्देशन करते समय इन्द्रियों को अपने वश में करते हुए ब्रह्मचर्य पालन का विधान किया गया है। समावर्तन के पश्चात् छत्र व दण्ड धारण करने का विधान किया गया है।[2] विश्वबन्धुत्व का जैसा निर्वाह वैदिक मंत्रों में हुआ है वैसा ही परिवर्तीकाल अर्थात् गृह्यसूत्रों में भी उपलब्ध होता है। स्नातक के नियमों में भी सत्य प्रतिज्ञा होने की शिक्षा दी गयी है।[3]

सद्‌वृत्त (क्या न करें) :-

झूठ न बोलें, दूसरे का अधिकार व धन को न लें, दूसरों की स्त्री के साथ संभोग व दूसरों के धन को प्राप्त करने की इच्छा न करें, शत्रुता में रूचि न लें, पाप न करें, पापी व्यक्ति के साथ भी पाप व्यवहार न करें, दूसरे के दोषों को न देखें, दूसरे की गुप्त बातों को जानने की चेष्टा न करें, अधार्मिक मनुष्य, राजा, शत्रु, पागल,

1. जै0गृ0सू0 19.10, गो0गृ0सू0 3.4.23., द्रा0व खा0गृ0सू0 3.1.21
2. गो0गृ0सू0 3.4.26. द्रा0 व खा0गृ0सू0 3.1.24., जै0गृ0सू0 18.2.
3. गो0गृ0सू0 3.5.27. एवं 28

पतित, भ्रूण हत्यारे, क्षुद्र व दुष्ट व्यक्तियों के पास न बैठें। जिस शैय्या पर बिस्तर न बिछा हो व तकिया न लगी हो उस पर न सोवें। पर्वत की ऊँची-ऊँची चोटियों पर भ्रमण न करें। पेड़ पर न चढ़े, भयंकर वेग वाले जल में घुसकर स्नान न करें, नदी के कगार की छाया पर न बैठें। आग लगे स्थान के चारो ओर भ्रमण न करें। बहुत जोर से न हँसे। शब्द युक्त अपान वायु का त्याग न करें। अंगुली से नासिका न कुरेदें। मुख को बिना ढ़के जम्भाई, छींक व हँसी न निकाले, दाँत न किटकिटायें। नख न बजायें। हड्डियों को परस्पर न रगड़े। भूमि को नख से न कुरेदें, तृण को दाँत से न काटें, मिट्टी के ढेले को न फोड़ें। अपने अंगों से विकृति चेष्टाएँ न करें। अधिक चमकने वाले सूर्य, अग्नि आदि को तथा अप्रिय, अपवित्र एवं अप्रशस्त पहलुओं को न देखें। चैत्य, झण्डा, गुरु तथा अन्य पूज्य की छाया को न लाँघे। रात्रि में देव मन्दिर, चैत्य, वृक्ष, यज्ञ भूमि, चौराहे, उपवन, श्मशान व वर्धस्थान में निवास न करें। अकेल शून्य ग्रह और जंगल में न जायें। पाप करने वाली स्त्री, मित्र व नौकरों को न रखें। उत्तम पुरुषों से विरोध न करें। नीच पुरुषों के साथ न रहें। कुटिल कर्मो में प्रेम न रखें, दुष्ट प्रकृति के मनुष्यों के आश्रय में न रहें। दूसरे व्यक्तियों को भयभीत न करें। अधिक साहस, अधिक शयन, अधिक जागरण, अधिक स्नान, अधिक पानी या मदिरा का पान, अधिक भोजन न करें। अपने घुटने को ऊपर कर अधिक देर तक न बैठें। हिंसक जन्तुओं के पास न जायें। सामने आती हुई तीव्र हवा, धूप, ओस, आँधी का सेवन न करें। कलह का आरम्भ न करें। बिना एकाग्र मन अग्नि की उपासना न करें। अग्नि को जूठे मुख नीचे रखकर न तापें। रत्न, घृत, पूज्य मांगलिक, द्रव्य एवं फूल आदि का बिना स्पर्श किये घर से बाहर न निकलें। पूज्य, देवता, गुरु आदि एवं मांगलिक पदार्थो के दक्षिण भाग में होकर तथा अपूज्य एवं अमांगलिक वस्तुओं के वाम भाग में होकर न चलें।

गृह्यसंस्कारों के परिप्रेक्ष्य में :-

विवाह संस्कार में वर्णित लक्षण सम्पन्ना जाया के साथ ही संभोग करने का विधान है।[1] यहीं परदार गमन का भी निर्देश किया गया है।[2] सद्वृत्त में भ्रूण हत्या को दोष कहा गया है। यही भावना विवाह प्रसंग में देखने को मिलती है। कन्या का विवाह मासिक धर्म शुरू होने के पहले करने का विधान किया गया है।[3] स्नातक के नियम का निर्देशन करते समय पेड़ पर न चढ़ने का विधान किया गया है।[4] सद्वृत्त में जो भयंकर वेग वाले जल में घुसने का विधान है गृह्य संस्कारों में भी स्नातक के नियमों का वर्णन करते समय जंघे से ज्यादा जल में प्रवेश का निषेध किया गया है।[5] सभी संस्कारों में विश्वबन्धुत्व की भावना निहित है, कुटिल भावनाओं का कही भी स्पर्श तक नहीं है।

सद्वृत्त (किस प्रकार भोजन करना चाहिए) :-

हांथ में बिना रत्न धारण किये, बिना स्नान किये, बिना फटे वस्त्र धारण किये, बिना गायत्री आदि मंत्र का जप किये, बिना होम किये हुए, बिना देवताओं को अर्पण किये हुए, बिना माता-पिता को भोजन कराये अपने से बड़ों और आश्रितों को भोजन कराये, बिना सुगन्धित इत्र आदि को धारण किये हुए, बिना चन्दन आदि माला आदि को धारण किये हुए, बिना हाथ पैर मुख धोये, बिना उत्तर को मुख किये, बिना मन या उदास मन से भोजन न करें। अपने से प्रेम न रखने वाले, शत्रु, उदण्ड, अपवित्र और भूख से पीड़ित नौकर आदि से लायी हुई भोजन सामाग्री को एवं अपवित्र पात्र में, अनुचित स्थानों में, अस्मय में, संकीर्ण स्थानों में, बिना अग्नि के हवन किये हुए, रोक्षणीय भोजन को बिना प्रोक्षण किये, बिना मंत्र से अभिमंत्रित किये गये, भोजन

1. जै०गृ०सू० 15/6, गो०गृ०सू० 3.1.31
2. जै०गृ०सू० 19/11-12, गो०गृ०सू० 2.1.2.
3. वही पृ० 191
4. गो०गृ०सू० 3.4.5, जै०गृ०सू० 19.11
5. जै०गृ०सू०15/6, गो०गृ०सू० 3.1.31

की निन्दा करते हुए भोजन नहीं करना चाहिए। निन्दित अन्न का भोजन नहीं करना चाहिए। दधि, नमक, सत्तू और घृत को छोड़कर भोजन पात्र में परोसे हुए आहार का भक्षण सम्पूर्ण रूप में नहीं करना चाहिए। रात्रि में दधि न खायें, अधिक मात्रा में, दो-बार, बीच-बीच में जल पीते हुए तथा दाँत से काटकर सत्तू का सेवन न करें।

गृह्य संस्कारों के परिप्रेक्ष्य में :-

इन सिद्धान्तों के भी निर्देशन गृह्य संस्कारों में उपलब्ध होते हैं। समावर्तन संस्कार में गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के समय रत्न धारण करने को कहा गया है।[1] इसी समय से रत्न, रत्नमयी मालाओं व सुगन्धित द्रव्यों को धारण करने का विधान किया गया है। स्नान करके सायं व प्रातः होम करने का विधान किया गया है।[2] यह कार्य आजीवन करना चाहिए। प्रत्येक संस्कार में अहत् वस्त्रों को धारण करने का विधान है। स्नातक के वृद्धिशीली होने के विधान से माता-पिता व अन्य गुरुजनों को पहले भोजन कराना स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। द्विपक्व, बासी व अशुद्ध भोजन न करने का विधान स्नातक के नियमों के अन्तर्गत आता है। उपवास के नियमों का निर्देश करते समय कमनीय, घृत मिश्रित व सुपाच्य भोजन को गृहण करने का विधान किया गया है।[4] इसके अतिरिक्त अनेक नियम सद्वृत्त में कहे गये हैं। जिनका अनुपालन गृह्य संस्कारों में विविध अवसरों पर किया जाता है और यह विधान वैज्ञानिक हैं।

हिन्दू संस्कारों में वर्णित यह विधान व नियम वैज्ञानिकता से युक्त होते हुए भी प्रतीक भावना से ओत प्रोत हैं। इन संस्कारों के पीछे यह भावना थी कि सदृश्य वस्तुओं से सदृश्य वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। इन प्रतीक भावनाओं से तदनुरूप गुणों के संचार की कामनाएँ की जाती थीं। पत्थर दृढ़ता का प्रतीक है। इसलिए विवाह संस्कार

1. गो०गृ०सू० 3.5.16, द्रा० व खा०गृ०सू० 3.1.40
2. गो०गृ०सू० 1.3.14
3. गो०गृ०सू० 1.5.27

में अस्मारोहण की प्रथा है।[1] ध्रुवतारे का देखना भी प्रतीक था।[2] लावा और चावल उर्वरता और समृद्धि का प्रतीक है।[3] समन्जन स्नेह और प्रेम का प्रतीक था।[4] सहभोज एकता का प्रतीक है[5] हृदय स्पर्श एक चित्त होने का प्रतीक है।[6] इन विवेचनों से यह स्पष्ट है कि संस्कारों के सम्पूर्ण विधान प्रतीकात्मक है।

इस प्रकार संस्कार औचित्यपूर्ण हैं इन्हें अवहेलनात्मक दृष्टि से देखना इनके साथ अन्याय है। हमें इनमें आस्तिक्य बुद्धि रखकर इनका पालन कर अपने जीवन का उत्कर्ष करना चाहिए।

1. पा०गृ०सू० 1.7.1
2. पा०गृ०सू० 1.8.9.
3. आ०गृ०सू० 1.7.8
4. गो०गृ०सू० 2.1.18
5. पा०गृ०सू० 1.11.5
6. वही 1.8.8

उपसंहार
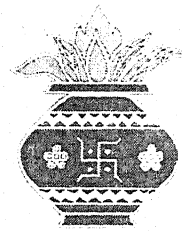
उपसंहार

मानव जीवन रहस्याच्छादित पहेली है। संसार में आगमन परिवर्धन और पुनः विलय व्यापार का क्रम संसार की सत्ता का सार है। इसीलिए तो माना जाता है कि संसार सास्वत नहीं। जीवन के उद्भव, विकास, ह्रास और लोप के रहस्य रणन के लिए मानव मन सदा व्याकुल रहता है। ये संस्कार इसी रहस्य को सुलझाने के लिए एवं जीवन के प्रवाह को सुविधाजनक बताने के लिए सतत् प्रयत्नशील हैं।

अनेक युगों का निरीक्षण कर अपने अनुभव, त्रुटियों और विश्वासों के माध्यम से भारतवासियों ने यह अनुभव कर लिया था कि जीवन भी संसार की अन्य कलाओं के समान एक कला है। जीव की स्थिति पर विचार कर इन्होंने दो रूपों को देखा- सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म से तात्पर्य आत्मसत्ता है और स्थूल से जीवन की अन्य सत्ताओं का। आत्मा अपरिवर्तनशील अजर, अमर और नित्य माना जाता है, इसीलिए इसे चेतन कहा जाता है। इसी चेतन से संयुक्त होकर जीव सच्चिदानंद से एकता की अनुभूति करता है। सच्चिदानंद तक पहुँचने में स्थूल तत्व बाधक होते हैं। अतः इसी स्थूल तत्व को परिमार्जित एवं विशुद्ध कर सूक्ष्म तत्व तक पहुँचाना ही संस्कारों का अन्तिम उद्देश्य होता है।

जीवन एक चक्र है। जीवन का आरम्भ वहीं होता है जहाँ उसका अन्त होता है। जीवन वह श्रृंखला है जो जन्म से मृत्यु पर्यन्त अनुस्यूत होती है, सांसारिक विषयों का उपभोग करने व उनमें सुख प्राप्त करने के लिए चेष्टा युक्त होती है। संस्कारों, उनके विधि-विधानों और उनमें प्रयुक्त मंत्रो से जीवन में गतिशीलता आती है, जीवन सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता चला जाता है। गृह्यसूत्रों में विवाह को जीवन का केन्द्र माना गया है, जो समस्त सामाजिक गतिविधियों को धारण कर अनुप्राणित करता है। जीवन के सदृश्य सम्पूर्ण संस्कार भी जीवन से मृत्यु पर्यन्त व्यक्ति को गतिशीलता प्रदान करते हैं।

संस्कारों में ऐसे अनेक सामान्य तत्व भी दृष्टिगत होते हैं जो धार्मिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं लगते और जन सामान्य की धार्मिक विचारधारा में परिवर्तन होने पर भी संस्कार उनमें स्थित रहेंगे। संस्कारों पर अपने इष्ट मित्रों एवं सम्बन्धियों को आहुत कर समाजिकता का निर्वहन किया जाता है। अनेक संस्कारों में मण्डपाच्छादन व सजावट के माध्यम से अपनी खुशियों को प्रकाशित किया जाता है। इसी खुशी को स्पष्ट करने के लिए संगीत व वादन आदि के भी आयोजन किये जाते थे। ये प्रथाएँ चलन व नियम मूलतः सामाजिक व वैज्ञानिक थे। दीर्घकाल की परम्परा में इन्होंने धार्मिक स्वरूप ले लिया। संस्कार काल में वास्तव में वातावरण धार्मिक व आध्यात्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत रहता है। संस्कार होने के समय संस्कार्य अपने को आनन्दित, उच्च एवं उदात्त भावनाओं से ओत-प्रोत, शुद्ध एवं पवित्र होने का अनुभव करता है।

संस्कारों को अपने आप में कभी भी उद्देश्य नहीं माना गया है। संस्कारों के द्वारा फलीभूत होकर नैतिक सद्गुण परिपक्व हो जाते हैं। संस्कार व्यक्ति को जीवन के हर मोड़ पर व्यवहार के लिए नियमों का निर्धारण करते हैं। संस्कारों में व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रश्न दृष्टिगत होते हैं। संस्कारों द्वारा जीवन का प्रत्येक भाग व्याप्त होता है। संस्कार जीवन का मार्गदर्शन बनते हुए जीवन को उसके परम लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त करने में सहायक बनते हैं। प्रत्येक संस्कार अवसरानुकूल किये जाते थे - जैसे- गर्भाधान तब किया जाता था जब पति और पत्नी दोनों गर्भाधान के लिए शारीरिक व मानसिक दृष्टि से सक्षम होते थे। जन्म होने जातकर्म के अन्तर्गत आयुष्य व प्रज्ञाजनन सम्बन्धी कार्य। चूड़ाकरण के पश्चात् शिशु के बालक होने पर जब अध्ययन का समय आता है तो कठोर नियमों, उत्तरदायित्वों के परिचयपूर्वक उपनयन संस्कार किया जाता था। इस अवस्था में उसे कठोर अनुशासनों के बीच गुजरना होता था। समावर्तन के बाद वह विवाहित गार्हस्थ जीवन में प्रवेश

करता था। विवाह की यह व्यवस्था मानव सभ्यता का विकसित स्वरूप था। पाणिग्रहण संस्कार विवाहित दम्पति के भावी जीवन के मार्गदर्शन के लिए किया जाने वाला धर्मोपदेश था। गृहस्थ के लिए विविध धर्मों एवं यज्ञों का विधान उनकी स्वार्थपरता व संकीर्णता को दूर कर उनमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को भरना है। अतः निश्चित ही संस्कारों में प्रयुक्त होने वाली विधियाँ विश्वास की भावना पर आश्रित हैं, जिनमें वैज्ञानिक भावनाएँ कूट-कूट कर भरी पड़ी हैं। अनेक विदेशी जातियाँ हिन्दुओं के सम्पर्क में आयी और हिन्दुओं की संस्कृति से प्रभावित हुई और हिन्दू धर्म आज भी अपनी संस्कृति के बल पर एक राष्ट्र के रूप में जीवित है।

संस्कार हमारे चतुर्दिक विकास के सोपान हैं। इन संस्कारों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अतिमानुषी शक्तियों के कुप्रभाव से बचने के लिए संस्कारों के माध्यम से दिव्य शक्तियों का आह्वान करते थे। हिन्दुओं की यह अवधारणा है कि जीवन के हर चरण में किसी न किसी देवता का योग होता है जैसे गर्भाधान के समय विष्णु, विवाह के समय प्रजापति, उपनयन के समय बृहस्पति आदि, अतः इन संस्कारों में उपर्युक्त देवताओं को उद्बोधित कर उनकी अनुग्रह भावना को प्राप्त करते थे। अनेक वैज्ञानिक तथ्य उनकी अलौकिक बुद्धि के द्योतक थे। जैसे सीमान्तोनयन के समय पत्नी की माँग को सँवारना, गले में उदुम्बर वृक्ष की शाखा का स्पर्श करना, पुंसवन के समय वटवृक्ष के शुंग के रस को दाहिनी नासिका में डालना आदि। संस्कार अशुभ भावनाओं के प्रतिकार व शुभ भावनाओं की प्राप्ति के माध्यम थे। ये संस्कार कर्म काण्ड, ज्ञान काण्ड व उपासना काण्ड इन तीनों काण्डों को गति प्रदान करने में सहायक होते थे। परन्तु कर्मकाण्ड के साथ इनका विशेष सानिध्य है।

गृह्य संस्कारों में प्रत्येक युग मंत्र विनियुक्त है। वैदिक मंत्र सस्वर उच्चारित किये जाते हैं, जिनका निर्देशन शिक्षा ग्रन्थों में पर्याप्त पेश किया गया है। आज सस्वर मंत्रोच्चारण की प्रक्रिया कहीं-कहीं देखने को मिलती है। इस प्रक्रिया का ह्रास होता

जा रहा है। गृह्यसूत्रों में प्रयुक्त संस्कारों में विनियुक्त मंत्रों में अनेक आयुर्वैदिक सामाग्रियाँ परिलक्षित होती हैं। ये मंत्र कहीं दीर्घायु से सम्बन्धित होते हैं तो कहीं वायु, अग्नि, जल, सूर्य आदि में औषधात्मक तत्वों का निरूपण करते हैं।

भारतीय चिन्तन परम्परा में सांसारिक जीवन को निरर्थक कहा गया है। पार्थिव अस्तित्व से परे चेतना की स्थिर अवस्था को प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का गन्तब्य है। जीवन के वास्तविक मूल्यों के प्राप्ति के साधन ये संस्कार सांसारिक जीवन को हीनता से देखते हुए उन्हें परिष्कारित करते हैं। संस्कार हिन्दू मस्तिष्क को संतुलित व समन्वयवादी बनाने में सफल रहे। इसलिए मनुष्य संस्कारों के इतना निकट आ गया कि सम्पूर्ण परिवर्तनों व उथल-पुथल के बावजूद भी मनुष्य उनसे चिपका रहा। जीवन पर संस्कारों का इतना कठोर नियंत्रण था कि अनेक देवताओं को भी संस्कारों के बीच में जाना पड़ता था।

संस्कारों में आर्यो की प्राचीन धार्मिक भावनाएँ निहित हैं। प्रत्येक संस्कार में यजमान के साथ यजमान पत्नी होती है। इस प्रकार पति-पत्नी में समन्वय स्वयमेव स्थापित हो जाता है। संस्कारों के माध्यम से अकल्याणकारी शक्तियाँ निष्प्रभावी हो जाती हैं। हमारा यह चिन्तन है कि हमारे चारो ओर अकल्याणकारी शक्तियाँ व्याप्त हैं। अतः इन अवसरों पर हम दिव्य शक्तियों का आह्वान कर अमंगल से छुटकारा पा लेते हैं। अमंगल के दूरीकरण से मंगल का स्वयमेव आधान हो जाता है। संस्कारों के माध्यम से संस्कार्य में उच्चतर धर्म और पवित्रता का समावेश होता है। गर्भाधान के समय किये जाने वाले होम एवं जातकर्म, चूड़ाकर्म आदि संस्कारों से द्विजों के गर्भ तथा बीज सम्बन्धी दोष दूर हो जाते हैं। शरीर, आत्मा की निवास स्थली है, अतः इसे पवित्र रखने के लिए भिन्न-भिन्न अवसरों पर संस्कारों को करने का प्राविधान है। मनुस्मृति में मनु का कहना है कि स्वाध्याय, व्रत होम, देवर्षि तर्पण, यज्ञ, संतानोत्पत्ति, इज्या व पंचमहायज्ञों के अनुष्ठान से यह शरीर ब्राह्मी हो जाता है।

अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति के योग्य हो जाता है जो जीवन का परम लक्ष्य हैं। इस विषय में हारीत कहते हैं कि ब्रह्म संस्कारों से संस्कृत व्यक्ति ऋषियों की स्थिति को प्राप्त कर उनके समान हो जाता है और उनके निकट निवास करता है तथा दैव संस्कारों से संस्कृत व्यक्ति देवों की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। शंखलिखित इस विषय में कहते हैं कि संस्कारों से संस्कृत तथा आठ आत्मगुणों से युक्त व्यक्ति ब्रह्मलोक में पहुँचकर ब्रह्म पद को प्राप्त कर लेता है, जिससे वह फिर कभी च्युत नहीं होता।

संस्कारों के द्वारा व्यक्ति का नैतिक चरित्र उन्नत होता है। ब्रह्मचारी के नियम, गर्भिणी स्त्री के नियम, स्नातक के नियम आदि नियमों से व्यक्ति के नैतिक गुणों में वृद्धि होती है। गौतम ने अपने गौतम धर्मसूत्र में लिखा है कि दया, क्षमा, अनुसूया, शौच, शम, उचित व्यवहार, निरीहता तथा निर्लोभ ये आठ आत्मिक गुण संस्कारों से प्राप्त होते हैं। इस विषय में वे आगे कहते हैं कि जिस व्यक्ति ने चालीस संस्कारों का अनुष्ठान तो किया किन्तु जिस व्यक्ति ने केवल कुछ ही संस्कारों को किया है किन्तु उनमें यदि ये आठो गुण विद्यमान है तो वह ब्रह्मलोक में ब्रह्म सानिध्य प्राप्त कर लेता है।

आदिम समाज में जन साधारण में अनिवार्य शिक्षा को लागू करने के लिए कोई लौकिक माध्यम न था। संस्कार अनिवार्य थे अतः इनके द्वारा इस प्रयोजन की सिद्धि भी की जाती थी। शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से योग्य होने पर भी प्रत्येक बालक को शिक्षा के अनिवार्य पाठ्यक्रम से होकर गुजरना होता था, जिसमें अध्ययन तथा कठोर अनुशासन का समावेश था। इससे प्राचीन हिन्दुओं के उच्च बौद्धिक तथा सांस्कृतिक सार की रक्षा में योग मिलता था। विवाहों के प्रकारों, उनकी सीमाओं, वर-वधू के वरण, वैवाहिक विधान के सम्बन्ध में निश्चित नियमों के निर्धारण द्वारा विवाह संस्कार अनेक यौन तथा सामाजिक समस्याओं का नियमन करता था। इसी प्रकार विद्यारम्भ तथा उपनयन से समावर्तन सभी संस्कार शिक्षा की दृष्टि से अत्यन्त

महत्वपूर्ण हैं। अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि मृतक एवं जीवित व्यक्ति के प्रति गृहस्थ के कर्तव्यों में सामंजस्य स्थापित करता है। यह पारिवारिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य विज्ञान का एक आश्चर्यजनक समन्वय था और जीवितों को सांत्वना प्रदान करने का एक माध्यम था। इस प्रकार संस्कार व्यवहार में मानव जीवन एवं उसके विकास की क्रमबद्ध योजना के तहत कार्य करते थे।

संस्कारों का ऐतिहासिक क्रम अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक संहिताओं के मंत्रों से संस्कारों में सम्बन्धित मंत्र है, अतः संस्कारों का मूल अंश संहिताओं में ही हैं। इसीलिए कहा गया है – 'वेदोऽखिलोधर्ममूलं'। स्मृतियाँ भी इस बात को प्रमाणित करती हैं। ऋचाओं में हमे लोक धर्म की झलक मिलती है। इसके अतिरिक्त धार्मिक विधि–विधानों से सम्बद्ध कुछ विशिष्ट सूक्त उपलब्ध होते हैं जिनका विनियोग विवाह, गर्भाधान, अन्त्येष्टि आदि संस्कारों में किया जाता है। कर्मकाण्ड की दृष्टि से ये वर्णन भले ही विधि के अनुसार वर्णित न हो किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त निकट हैं।

यजुर्वेद धर्म सम्बन्धी विधि–विधानों के विकास में उन्नत स्वर को प्रदर्शित करता है। इसकाल तक पुरोहित वर्ग की रचना हो चुकी थी। यजुर्वेद मनुष्य तथा श्रौत सूत्रों से ही सम्बन्धित हैं। श्रौत यज्ञों के पूर्व जो मुण्डन किया जाता है, उससे सम्बन्धित मंत्र यजुर्वेद में मिलते हैं। अन्य संस्कारों की सामाग्रियाँ इसमें अपर्याप्त रूपेण विद्यमान हैं। इसी प्रकार सामवेद में भी संस्कारों के इतिहास की दृष्टि से कोई भी सामाग्री उपलब्ध नहीं होती।

लौकिक धर्म और सामाजिक विधि–विधानों से सम्बन्धित जानकारी अथर्ववेद में पर्याप्त रूप में विद्यमान है। इसमें मनुष्य के जीवन के प्रत्येक भाग से सम्बन्धित मंत्र मिलते हैं। विवाह व अन्त्येष्टि से सम्बन्धित सूक्त ऋग्वेद से ज्यादा अथर्ववेद में प्राप्त होते हैं। ब्रह्मचारी की प्रशंसा, गर्भाधान की चर्चा, दीर्घायुष्य के लिए की जाने वाली प्रार्थनाएँ, मुण्डन, गोदान व उपनयन आदि संस्कारों में व्यवहृत होती हैं । विवाह व

प्रेम से सम्बन्धित सूक्त 'स्त्रीकर्माणि' के अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रसंग में अनेक आभिचारिक कर्म भी वर्णित हैं। अनुसंधान की दृष्टि से संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों का स्थान है। ब्राह्मण ग्रन्थ वैदिक कर्मकाण्ड से सम्बन्धित ग्रन्थ है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञीय क्रियाओं की ही प्रधानता है। कहीं-कहीं संस्कारों से सम्बन्धित छिटपुट उल्लेख प्राप्त होते हैं, गोपथ ब्राह्मण में उपनयन से सम्बन्धित अधूरा विवरण प्राप्त होता है। शतपथ व ऐतरेय ब्राह्मणों में विद्यार्थियों के लिए कुछ नियमों का वर्णन मिलता है, अजिन एवं गोदान से सम्बन्धित वर्णन हैं। शतपथ में अन्त्येष्टि से सम्बन्धित भी कुछ वर्णन है।

आरण्यक मुख्यतया दार्शनिक विषयों से सम्बन्धित हैं। उस काल में भी यज्ञ व संस्कार प्रचलित थे। तैत्तरीय आरण्यक में ऐसा वर्णन है। जिससे स्पष्ट होता है कि विवाह सामान्यतः परिपक्व आयु में किये जाते थे। अविवाहिता कन्या का गर्भिणी होना पाप समझा जाता था। पाप क्रिया से भी सम्बन्धित मंत्र यहाँ उपलब्ध हैं।

उपनिषदों में उपनयन से सम्बद्ध अनेक सधर्म उपलब्ध होते हैं। चार आश्रम इस समय तक प्रतिष्ठित हो चुके थे। ब्रह्मचारी के नियम निर्धारित हो चुके थे। उपनयन ब्रह्मचर्य गुरु व शिष्य से सम्बन्धित प्रभूत सामाग्रियाँ उपनिषदों में उपलब्ध होती हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में छोटी उम्र में विवाह का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी उपनिषद् में नामकरण से सम्बन्धित पद्धतियों की चर्चाएँ हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में भी संन्यासी की अन्त्येष्टि न करने का उल्लेख प्राप्त होता है।

इनके अतिरिक्त विविध कल्पों, परिशिष्ट, श्राद्ध कल्पों आदि में संस्कार से सम्बन्धित सामाग्रियाँ उपलब्ध हैं। धर्मसूत्र, स्मृतियों, महाकाव्यों, पुराणों आदि में इससे सम्बन्धित उल्लेख प्राप्त होते हैं। इन सबके अतिरिक्त संस्कारों के सर्वाधिक विस्तृत विवेचन गृह्यसूत्रों में ही हैं।

विस्तृत ऐतिहासिक परम्पराओं से प्राप्त हुए संस्कार हमारे पूर्वजों की उदारता,

नैतिकता व आध्यात्मिकता से समन्वित हैं। इनमें आयुर्वेद की स्वस्थ व पूर्ण जीवन शक्ति है। विभिन्न यज्ञों, व्रतों व संस्कारों में वर्णित आचार-विचार पूर्ण आयुर्वेदीय पद्धतियों से समन्वित हैं। ये संस्कार हमारे जीवन के सभी पक्षों की सतत् प्रवाह व ज्ञानमयी धारा को प्रवाहित करते हुए अपने सिद्धान्तों की अमिट छाप छोड़ते हैं, इसे कोई भी विज्ञपाठ्क, धर्माचार्य या चिकित्सक अस्वीकार नहीं कर सकता।

अन्य सामाजिक व धार्मिक क्रियाओं के समान दीर्घकाल तक अपने प्रयोजनों की पूर्ति कराते हुए संस्कार भी विषम वाह्य परिस्थितियों के कारण ह्रासोन्मुख हो गये। संस्कारों के रचनात्मक काल के बाद टीकाओं, निबन्धों व परम्पराओं का युग आया। नियमबद्ध एवं लेखबद्ध होने के कारण वे स्थिर, अपरिवर्तनशील हो गये। बौद्ध जैन आदि अनेक धर्मों ने जन साधारण का ध्यान कर्मकाण्डों की जटिलता से हटाकर अपनी ओर आकर्षित किया। जब संस्कृत भारत की लोकप्रिय भाषा न रही तो इसमें लिखित धार्मिक विधि-विधान रहस्यमय एवं अस्पष्ट प्रतीत होने लगे। इस स्वाभाविक परिवर्तन से संस्कारों के प्रति जन साधारण में अरूचि व उदासीनता आ गयी।

संस्कारों में धार्मिक विश्वास, सामाजिक प्रथाएँ, शिक्षा सम्बन्धी नीतियाँ स्वास्थ्य सम्बन्धी नियम पूर्णरूपेण विद्यमान थे। आज के पाश्चात्य भौतिकवाद के दृष्टिकोंण ने हिन्दू धर्म पर आक्रमण कर यहाँ की प्राचीन शिक्षण पद्धति को लुप्त कर अपनी संस्कृति से बौद्धिक तथा भावुक रूप से प्रथक कर दिया। आज हम अपनी सांस्कृतिक अवधारणा से दूर होते चले जा रहे हैं। संस्कारों के लिए यही सर्वाधिक गम्भीर संकट है। आज का विचारक वर्ग ही इस विषय में कुछ कार्य कर सकता है। वर्तमान भौतिक वाद के विरूद्ध आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की जा सकती है।

मानव के विश्वासों, आशंकाओं, भावनाओं की अभिव्यक्ति ही संस्कार थे। जीवन के हर पल में परिवर्तन हो रहा है। इसीलिए संस्कारों में भी परिवर्तन अनिवार्य रूपेण होगा। आज विज्ञान जीवन के अनेक रहस्यों को उद्‌घाटित कर चुका है, इसलिए

मनुष्य का प्रकृति पर नियंत्रण बढ़ गया है। ऐसी अनेक प्राकृतिक शक्तियाँ जिसमें पहले लोग डरते थे वे आज मानव की दास हो चुकी हैं। इसलिए आतंक व श्रृद्धा के कारण जो संस्कार पहले किये जाते थे। वे धीरे-धीरे क्षीण होते चले गये। फिर भी जीवन का जो अन्तिम सार है वह धार्मिकता में ही लीन होता है। भौतिकता से आत्मिक शान्ति नहीं मिलती, बल्कि अशांति का ही प्रसार होता है, अतः संस्कारों का साहचर्य हमेशा अपनी ओर मानव को आकृष्ट करता रहेगा, और संस्कारों का सम्पूर्ण रूपेण लोप कभी भी नहीं हो सकता, समयान्तराल में संस्कार पुनः अपनी प्राचीन सत्ता को प्राप्त कर लेंगे। संस्कारों का प्राचीन रूप भले ही कुछ परिवर्तित हो और निश्चित ही संस्कारों को युगानुरूप नवीन रूप प्राप्त होगा और समाज उनसे लाभान्वित होता रहेगा।

प्रस्तुत विषय 'गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कार आयुर्वैज्ञानिक दृष्टि में' अत्यन्त गहन व शोध योग्य है हमने इसको पाँच अध्यायों में विभक्त कर अध्ययन किया। ज्ञान अनादि और अनन्त है, इसलिए इसमें कहीं भी त्रुटि परिलक्षित हो तो विद्वद्जन उसे क्षमा करने का कष्ट करें।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वेदों में भारतीय संस्कृति – पं. आद्या ठाकुर, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ0प्र0 लखनऊ, प्रथम संस्करण, 1967
2. शिक्षा संग्रह': गिफिथ, 1830
3. वैदिक परम्परा : पं0 वीरसेन वेदश्रमी, गोविन्द राम आशानन्दन, नई सड़क दिल्ली-6
4. हिन्दू संस्कार : डॉ0 राजबली पाण्डेय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण,1978
5. संस्कार विधि विमर्श : अत्रिदेव गुप्त, नरेन्द्र शास्त्री, का0हि0वि0वि0, वाराणसी,1951
6. शतपथ ब्राह्मण : हिन्दी अनुवाद, गंगा प्रसाद उपाध्याय, प्राचीन वैदिक अध्ययन अनुसंधान संस्थान, दिल्ली, 1967
7. सामवेद संहिता (सायणभाष्य) : सत्यव्रत सामश्रमो, कलकत्ता, 1973
8. सुश्रुत संहिता : जय कृष्णदास आयुर्वेद ग्रन्थकाल, चौखम्बा, ओरियन्टालिया, वाराणसी, संवत 1980.
9. शांखायन गृह्यसूत्र : सेहगल, 1960
10. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : डॉ0 वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1978
11. शांरगधर संहिता : श्री प्रयागदत्त शर्मा, चौखम्बा अमर प्रकाशन, वाराणसी, 1981
12. अथर्ववेद : सम्पादक आर0राथ और डब्लू डी0ह्विटने – बर्लिन 1856
13. ऋग्वेद संहिता : सम्पाकद एफ0मैक्स मूलर, द्वितीय संस्करण 1890
14. यजुर्वेद संहिता: अनु0 – ग्रिफिथ बनारस 1899

15. तैत्तिरीय संहिता : संम्पादक वेबर - बर्लिन, 1899

16. मैत्रायणी संहिता : सम्पादक वॉन श्रेडर - लिपिझिग, 1881-86

17. सामवेद संहिता : सम्पादक और अनुवादक टी0वेनफी, लिपिझिग

18. ऐत्तरेय ब्राह्मण - सम्पादक टी0आफ्रेख्ट जर्मनी 1879

19. शतपथ ब्राह्मण : बेवर लन्दन, 1885

20. गोपथ ब्राह्मण : सम्पादक राजेन्द्र लाल मित्र और एच0 विद्याभूषण कलकत्ता, 1872

21. मन्त्र ब्राह्मण : सम्पादक ए0सी0 बर्नेल, लन्दनं 1873

22. ऐतरेय आरण्यक : सम्पादक ए0बी0कीथ- आक्सफोर्ड 1909

23. तैत्तिरीय आरण्यक : सम्पादक हरि नारायण आप्टे, पूना 1898

24. छान्दोग्य उपनिषद : निर्णय सागर, संस्करण बम्बई 1930

25. वृहदारण्यक उपनिषद् : निर्णय सागर संस्करण, बम्बई 1930

26. आपस्तम्भ स्रौतसूत्र : सम्पादक आर0गारबे, कलकत्ता 1882

27. आश्वलायन स्रौतसूत्र : सम्पादक आर0विद्यारत्न कलकत्ता 1864-74

28. शांख्यायन स्रौत सूत्र : सम्पादक हिलेब्राण्ड कलकत्ता- 1882

29. आश्वलायन गृह्यसूत्र : सम्पादक ए0एफ0 स्टेन्जलर लिपसिंग, 1864

30. आपस्तम्भ गृह्यसूत्र : सं. एम0विण्टरनिट्ज वियना, 1887

31. कौशिक गृह्यसूत्र : सं0 एम0ब्लूमफिल्ड न्यूहेवेन 1890

32. पारस्कर गृह्यसूत्र : सं. गोपालशास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1926

33. बौधायन गृह्यसूत्र : सं. आर0शर्मा शास्त्री, मैसूर 1920

34. मानव गृह्यसूत्र : सं. एफ0नावर सेण्टपीटर्सबर्ग 1897

35. शांखायन गृह्यसूत्र : सं. एच0ओल्डेनवर्ग, इण्डियन स्टडीज 15

36. हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र : सं. जे0 किर्त्से बियना 1889

37. गोभिल गृह्यसूत्र : चिंतामणि भट्टाचार्य, गेटोपालिटोन प्रिंटिंग एण्ड गोभिल गृह्यसूत्र- पं. सत्यव्रत सामश्रम कृत संस्कृत व्याखतो तेतम्पेतमंत्र - ठा0 उदयनारायण सिंह कृत हिन्दी व्याख्यान संहितां, पब्लिकेशन हाउस लि0कलकत्ता, 1936

38. खादिर गृह्यसूत्र : हिन्दी अनुवाद, ठा0 उदय नारायण सिंह, शास्त्र पब्लिसिंग हाउस, मुजफ्फरपुर, 1934

39. द्राहयायण गृह्यसूत्र : हिन्दी अनुवाद ठाकुर उदय नारायण सिंह, शास्त्र पब्लिसिंग हाउस, मुजफ्फरपुर 1934

40. जैमिनीय गृह्यसूत्र : डॉ0 डब्लू कैलण्ड, मोतीलाल बनारसीदास, 1922

41. अष्टाध्यायी (प्रथम भाग) : ब्रह्मदत्त जिज्ञासु 1964

42. अष्टांगसंग्रह : सम्पा0 वैद्य अनन्त दामोदर आठवले - श्रीमद् आत्रेय प्रकाशन "नन्दन" 1/7/0, 12/1/2 एरण्ड नगर, पुणे -4

43. अष्टांगहृदय : श्री हरिनारायण शर्मा वैद्य, लोलार्मकुण्ड भदैनी वाराणसी

44. अभिज्ञान शाकुन्तलम् : डॉ0 रमाशंकर त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, द्वितीय संस्करण 1981

45. आयुर्वेद का इतिहास : अत्रिदेव विद्यालंकार - हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, विभव सम्मत, 1900

46. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास : आचार्य प्रियव्रत शर्मा, चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, द्वितीय संस्करण 1981 ई0

47. आयुर्वेद का इतिहास : (प्रथम भाग) साहित्यायुर्वेदाचार श्री कविराज वागीश्वर शुक्ल, चौखम्बा, अमर भारती प्रकाशन 1977

48. काशिका : (प्रथम भाग) हिन्दी डॉ0 श्री नारायण मिश्र 1969

49. काश्यप संहिता (विद्योतनी टीका) चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस वाराणसी

1953 क. चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 38 यू0ए0बंगला रोड, जवाहर नगर, दिल्ली

50. काय चिकित्सा : गंगा सहाय पाण्डेय - चौखम्बा संस्कृत संस्थान, द्वितीय संस्करण 1976

51. कुमार सम्भवम् : पं0 प्रद्युम्न पाण्डेय 1963

52. गोभिल गृह्यकर्म प्रकाशिका : काशी विक्रमाद 1962 ई0

53. गृह्यायण संग्रह : गोभिल पुत्रकृत चन्द्रकान्त तर्कालंकार भट्टाचार पुत्र भाष्य एशिया टीका सोसायटी सभा।

54. गृह्यमंत्र और उनका विनियोग : डॉ0 कृष्नलाल, नेशनल पब्लिसिंग हाउस, 2/35 अंसारी रोड, दरियागंज दिल्ली- 6

55. चरिक संहिता : (प्रथम भाग) सं0 राजेश्वर दत्त शास्त्री, पृ0 यदुनन्दन उपाध याय, पं0 गंगासहाय पाण्डेय, डॉ0 बनारसी दास गुप्ता, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी सं. 2034

56. भेल संहिता : गिरजादयाल गुप्त, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1959

57. भाव प्रकाश : डॉ0 ब्रह्मशंकर शास्त्री - चौखम्बा संस्कृत साहित्य, वाराणसी

58. भारतीय धर्म और दर्शन : डॉ0 बल्देव उपाध्याय, चौखम्बा ओरियन्टालिया वाराणसी, प्रथम संस्करण1977 ई0

59. महाभारत : पी0सी0राय कलकत्ता, 1881

60. मनु स्मृति (द्वितीय संस्करण) : गोपाल शास्त्री मेने, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, सं0 2026

61. लाट्यायन स्रौतसूत्र : जयकृष्ण दास, हरिदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिर वाराणसी, सं0 1889

62. वैदिक साहित्य और संस्कृत - आचार्य बल्देव उपाध्याय, शारदा मंदिर वाराणसी,

तृतीय संस्करण 1967

63. बृहद्देवता : (प्रथम भाग) डॉ0 वीरेन्द्र कुमार वर्मा 1912

64. जैमिनि न्यामाल विस्तार – माधवाचार्य मायूरं मा0 रामनाथ दीक्षित, प्रथम संस्करण 1983

65. तर्कसंग्रह : अन्नम भट्ट 1963

66. निरक्त मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दरियागंज दिल्ली

67. प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृत : डॉ0राजकिशोर सिंह, डॉ0उषा याद, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा तृतीय संस्करण 1975

68. कामन्दकीय नीति सार : हिन्दी अनुवाद – ज्वाला प्रसाद मिश्र बम्बई, सं0 2009

69. वीरमित्रोदय – मित्र मिश्र – चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस

70. विश्वधर्म दर्शन : श्री सांवलिया बिहारी लाल वर्मा, बिहार, राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, खृष्टाब्द, 1975